आगरा विश्वविद्यालय की एम. ए. पूर्वार्द्ध की
परीक्षा के लिये स्वीकृत संकलन

निबन्ध-विविधा

[आगरा विश्वविद्यालय प्रकाशन संख्या 96]

लेखक
डॉ. श्रीराम शर्मा
(अध्यक्ष हिन्दी विभाग)
धर्मसमाज डिग्री कालेज, अलीगढ़
एवं
डॉ. श्री भगवान शर्मा
हिन्दी विभाग
सेन्ट जौन्स डिग्री कालेज, आगरा

निबन्ध के
निबन्धकार के
आचार
भागों में
नाने का प्र

जगदीश पब्लिकेशन
पुस्तक प्रकाशन एवं विक्रेता
अस्पताल मार्ग, आगरा-3

सन् : 1994 मूल्य 25.00)

डॉ० श्री राम शर्मा द्वारा लिखित प्रकाशन

प्रथम प्रश्नपत्र (Exhaustive Notes)

1. स्कन्दगुप्त
2. मयूर एकांकी संग्रह—(आ० वि० वि० प्रकाशन सं० 82)
3. निबन्ध निचिका—(आ० वि० वि० प्रकाशन सं० 96)
4. ललित निबन्धावन—(आ० वि० वि० प्रकाशन सं० 102)

(Text with Notes)

द्वितीय प्रश्नपत्र

1. [illegible] प्रबंध (पृथ्वीराज रासो)—चन्दवरदाई—सं० माताप्रसाद गुप्त
2. विद्यापति का अमर काव्य—सं० गुणानन्द जुयाल
3. कबीर ग्रन्थावली—सं० श्यामसुन्दर दास
   [केवल स्वीकृत अंग—गुरुदेव को अंग, विरह को अंग, ग्यान विरह को अंग, परचा को अंग एवं पद संख्या—1, 8, 16, 69, 70, 185, 311, 396, 402]
4. जायसी ग्रन्थावली—सं० रामचन्द्र शुक्ल
   [पदमावत से केवल—सिंहलद्वीप वर्णन खण्ड, मानसरोदक खण्ड एवं नागमती वियोग खण्ड]
5. भ्रमरगीत-सार—[सूरदास] सं० रामचन्द्र शुक्ल (केवल स्वीकृत 50 पद
6. विनय-पत्रिका—[तुलसीदास]—सं० वियोगी हरि [केवल स्वीकृत पद संख्या 73 से 136 तक]

तृतीय प्रश्नपत्र

1. संक्षिप्त रामचन्द्रिका—[केशवदास]—सं० पं० जगन्नाथ तिवारी
2. बिहारी-रत्नाकर—जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' (केवल स्वीकृत 100 दोहे)
3. घनानन्द कवित्त—सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (स्वीकृत 50 कवित्त)
4. उद्धवशतक—जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' (केवल स्वीकृत
5. भ्रमरदूत (हृदय तरंग)—सत्यनारायण 'क

चतुर्थ प्रश्नपत्र

1. हिन्दी भाषा एवं साहित्य का इतिहास

प्रकाशन — जगदीश पब्लिकेशन
अग्रसेन चौक, अस्पताल मार्ग, आगरा-3

पुस्तकस्वाम्य — प्रकाशकाधीन

मुद्रक — ज्वाला प्रिन्टर्स, अस्पताल मार्ग, आगरा-3

निबन्ध-विविधा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(1) निबन्धों की विशेषताएं

प्रश्न 1—आचार्य शुक्ल के निबन्ध-साहित्य का परिचय देते हुए बताइए कि उनके निबन्धों की क्या उपलब्धियां हैं ?

अथवा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों की विशेषताएं बताइए।

अथवा

"इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि पर हृदय को भी साथ लेकर।" इस कथन के सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में हृदय और बुद्धि के समन्वय की विवेचना कीजिए।

अथवा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मनोविकार विषयक निबन्धों की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक निबन्धकार ही नहीं हैं, अपितु उन्होंने हिन्दी निबन्ध को जो प्रौढ़ता एवं परिपक्वता प्रदान की, उसके आधार पर हिन्दी निबन्ध के एक युग का नाम ही 'शुक्ल युग' पड़ गया। इस प्रकार इस युगनिर्माता निबन्धकार का प्रदेय असाधारण है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध 'चिन्तामणि' नामक निबन्ध-संग्रह के तीन भागों में प्रकाशित हुए हैं। 'चिन्तामणि भाग-1' में पहले 10 निबन्ध मनोविकार विषयक निबन्ध हैं। शेष 6 निबन्ध आलोचनात्मक हैं। इनमें और अधिक गहराई में जाकर विचार किया जाय तो दो प्रकार के निबन्ध हैं—

(1) सैद्धान्तिक आलोचना विषयक निबन्ध—कविता क्या है, काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद, रसात्मक बोध के विविध रूप। (कुल चार निबन्ध)

(2) व्यावहारिक आलोचना विषयक निबन्ध—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्ति-मार्ग और मानस की धर्म-भूमि। (कुल तीन निबन्ध)

चिन्तामणि द्वितीय भाग में बहुत लम्बे-लम्बे निबन्ध हैं। 'काव्य में रहस्यवाद' 111 पृष्ठों में समाप्य एक वृहद् निबन्ध है। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' भी

82 पृष्ठों में समाप्य दूसरा वृहद् निबन्ध है। वास्तव में ये प्रबन्ध रूप में लिखे गये हैं। 1935 में सम्पन्न हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन के लिए लिखा गया भाषण ही 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' के नाम से बाद में प्रकाशित किया गया है। तीसरा निबन्ध है—'काव्य में प्राकृतिक दृश्य'। ये निबन्ध वास्तव में सैद्धान्तिक आलोचना की बात कम करते हैं और व्यावहारिक आलोचना के अधिक निकट हैं।

शुक्लजी की मृत्यु के बहुत बाद में प्रकाशित **'चिन्तामणि का तीसरा भाग'** उनके कुछ भाषणों, अप्रकाशित निबन्धों का संकलन है। इसमें कुछ प्रारम्भिक अवस्था में लिखे गये निबन्ध भी हैं। इसलिए इसके प्रकाशन से शुक्ल के निबन्धकार रूप की ख्याति में कुछ खास वृद्धि नहीं हुई है। इस पुस्तक के ब्लर्ब पर दी गयी सम्पादकीय टिप्पणी में चिन्तामणि के इस तीसरे भाग के विषय में निम्न जानकारी दी गयी है—

"चिन्तामणि का यह तीसरा भाग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अब तक असंकलित ऐसे इक्कीस निबन्धों का अनूठा संग्रह है जो पुरानी पत्रिकाओं में बिखरे रहने और अप्राप्य पुस्तकों की भूमिका के रूप में प्रकाशित होने के कारण प्रायः दुर्लभ रहे हैं। इन निबन्धों में गोरखपुर के 'स्वदेश' में प्रकाशित 'क्षात्र धर्म का सौन्दर्य' और 'प्रेमा' में प्रकाशित 'प्रेम आनन्दस्वरूप है' ऐसे निबन्ध हैं जिनकी जानकारी भी लोगों को नहीं है।

(राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित 1983 प्रथम संस्करण से)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि आचार्य शुक्ल ने तीन प्रकार के निबन्धों की रचना की है। इनमें से प्रत्येक विषय में संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है—

मनोविकार विषयक निबन्ध—चिन्तामणि भाग-1 का पहला ही निबन्ध मनोविकारों की परिभाषा, उनकी प्रकृति आदि पर सैद्धान्तिक रूप से प्रकाश डालता है और उसके बाद उत्साह, प्रीति, करुणा, क्रोध, घृणा और भक्ति नामक मनोविकारों का इस प्रकार विवेचन किया गया है कि उसके अन्तर्गत मनोविकारों का सूक्ष्म अन्तर उनकी परिभाषा, मनोविकारों का सूक्ष्म अध्ययन प्रकट हुआ है। इन मनोविकारों का समाज के लिए क्या देन है, इस विषय पर भी प्रकाश डाला गया है। उन्होंने मनोविकारों को श्रेणीबद्ध किया है। इन निबन्धों में दुरूहता और नीरसता भी नहीं आने दी गयी है। हिन्दी में पहली बार ऐसे निबन्ध लिखे गये। इनमें तर्कमय चिन्तन की स्पष्ट छाप झलकती है।

समीक्षात्मक या आलोचनात्मक निबन्ध—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षात्मक निबन्धों में प्रौढ़ चिन्तन, गहन अध्ययन और तर्कपूर्ण विवेचन मिलता है। ये दो प्रकार के हैं—

(क) सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी।

(ख) व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी।

(2) यह पात्र (विषय) की भलाई की उत्तेजना करता है।

(3) यह विषय (पात्र) के दुःखमात्र से उत्पन्न होता है।

(4) प्रिय जनों के सुख का अनिश्चय मात्र करुणा का उद्रेक कर देता है।

(5) करुणा का प्रसार सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए आवश्यक है।

(6) करुणा का आलम्बन (विषय) करुणा करने वाले (आश्रय) के प्रति कृतज्ञ होता है।

(7) करुणा न्याय के निर्वाह का विरोध कर सकती है।

(8) जैन और बौद्ध धर्मों में करुणा को बहुत महत्व दिया गया है।

(9) करुणा शील और सात्विकता का संस्थापक मनोविकार है।

डॉ० तिवारी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ये सभी बातें मनोवैज्ञानिक तो कम हैं, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक क्षेत्रों को दृष्टि में रखकर निर्धारित की गयी हैं। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल के मनोविकार विषयक निबन्ध एक गम्भीर, मर्यादाप्रिय और बुद्धिवादी साहित्यकार का दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं।

हृदय को भी साथ लेकर :

यह बहुत कम लोग ही जानते हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को कवि हृदय भी मिला था। वे भावुकता में भी किसी से कम नहीं थे। यही कारण है कि उनके निबन्धों में शुष्क बौद्धिक विवेचन के साथ-साथ रागात्मक भाव पक्ष का भी सुन्दर पुट मिल जाता है। इस सम्बन्ध में पुनः डॉ० तिवारी का मत उद्धृत किया जाता है—

"आचार्य शुक्ल का बौद्धिक विवेचन उनकी सहृदयता से समर्थित है। मनोभावों का सम्बन्ध विषय-बोध से है। संसार के अनेक विषय हमारे मन को आकृष्ट करते हैं। जो रूप, गति या स्थिति हमारे मन को रमाने या आकृष्ट करने में समर्थ होती है, वह हृदय को स्निग्ध कर देती है। मनोभावों पर विचार करते समय आचार्य शुक्ल जब किसी ऐसे स्थल पर पहुँच जाते हैं, जहाँ उनका मन रम जाता है तो कुछ देर के लिए बुद्धिवादी आचार्य के स्थान पर सहृदय और भावुक शुक्लजी उभर आते हैं।" (हिन्दी का गद्य-साहित्य, पृ० 265)

अपने इस कथन की पुष्टि करने के लिए डॉ० तिवारी ने 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्ध का उल्लेख करते हुए राम और सीता के मर्यादित प्रेम का अवसर आने पर शुक्लजी की भाव-विह्वल स्थिति का रूप निम्न उद्धरण में उपस्थित किया है—

"उनका प्रेम जीवन-यात्रा के मार्ग में माधुर्य फैलाने वाला है, उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहें भरने वाला नहीं, उसके प्रभाव से वनचर्या में एक अद्भुत रमणीयता आ गयी है। साखरे कँटीले पथ प्रसूनमय हो गये हैं। सम्पूर्ण कर्म-क्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है कोमलांगी सीता अपने प्रिय पति की विशाल भुजाओं और कन्धों के ऊपर निकली हुई धनुष की वक्र कोटि पर मुग्ध निविड़

और निर्जन काननों में निःशंक विचर रही हैं। खर-दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती आ रही है। राम कुछ मुस्कराकर एक बार प्रेमभरी दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं फिर वीरदर्प से राक्षसों की ओर दृष्टि फेरकर अपना धनुष चढ़ाते हैं। उस वीर दर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा।

(चिन्तामणि, पृ० 65)

पुनः विवेचन की ओर

उपर्युक्त उद्धरण के तुरन्त बाद लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का बौद्धिक विवेचन करने वाला रूप पुनः लौट आता है और वे पुनः बुद्धि के शुष्क क्षेत्र में आ जाते हैं तथा एकान्तिक प्रेम और लोकजीवन के नाना क्षेत्रों में पाये जाने वाले प्रेम की तुलना करने लगते हैं—

"उस एकान्तिक प्रेम की अपेक्षा जो प्रेमी को एक घेरे में उसी प्रकार बन्द कर देता है, जिस प्रकार कोई मर्ज मरीज को एक कोठरी में डाल देता है। हम उस प्रेम का अधिक मान करते हैं जो संजीवन रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवनपथ को रमणीय और सुन्दर कर देता है, उसके सारे कर्म-क्षेत्र को अपनी ज्योति से जगमगा देता है।" (वही, पृ० 65)

निष्कर्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मनोविकार विषयक निबन्धों में विशेष रूप से और आलोचना विषयक निबन्धों में सामान्य रूप से बौद्धिक विवेचनों के बीच-बीच में ऐसे रसपूर्ण स्थल जुटाते हुए शुक्लजी बौद्धिक विवेचन को शुष्क नहीं बना रहने देते, कहीं बीच-बीच में हास्य-व्यंग के छींटे, कहीं प्रकृति के रमणीय चित्र, कहीं ऐसे रोचक उदाहरण कि पाठक उनके निबन्धों के बौद्धिक विवेचन से ऊब न उठे। यह हृदय और बुद्धि का अद्भुत समन्वय आचार्य शुक्ल के निबन्धों की बहुत महत्वपूर्ण उपलब्धि है। आचार्य शुक्ल का आचार्यत्व बीच-बीच में ऐसे रोचक प्रसंगों की अवतारणा करते हुए बौद्धिक श्रम का मानो परिहार करता चलता है। उदाहरणार्थ 'कविता क्या है ?' निबन्ध में बीच-बीच में काव्योदाहरणों द्वारा प्रतिपाद्य को रोचक बनाया गया है। साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्य वाद में भी कुछ उदाहरण—क्रूर व्यक्ति द्वारा निरीह-निरपराध बुढ़िया के पीटने आदि के-देकर इस प्रकार की बौद्धिक शुष्कता का परिहार किया गया है।

प्रश्न 2—"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में जो गरिमापूर्ण भाषा-शैली मिलती है, वैसी हिन्दी के किसी अन्य निबन्धकार के निबन्धों में नहीं मिलती।" इस कथन की मीमांसा कीजिए।

अथवा

आचार्य शुक्ल की भाषा-शैली का परिचय दीजिए और उनके भाषा-शैली विषयक वैशिष्ट्य का उल्लेख कीजिए।

अथवा

"रामचन्द्र शुक्ल की गद्य-शैली उच्च कोटि की है।" इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं और क्यों ?

अथवा

"हिन्दी निबन्ध साहित्य के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की निबन्ध-शैली का स्थान निर्धारित कीजिए।" (1987)

उत्तर—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में अभिव्यक्ति का जो सौन्दर्य देखने को मिलता है, उसके आधार पर ही शुक्ल जी को शैलीकार माना गया है। उनकी अभिव्यंजना पद्धति बड़ी अनूठी है। डॉ० रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में इस भाषा-शैली विषयक वैशिष्ट्य को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

"विचारात्मकता भावात्मकता एवं व्यंग्यप्रियता—ये शुक्लजी की निबन्ध-शैली की तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं। उनके निबन्धों में इन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है, किन्तु उनकी शैली में कुछ ऐसी विशेषताएँ भी हैं, जो उनके व्यक्तित्व के आन्तरिक संघटन से इस प्रकार संश्लिष्ट भाव से जुड़ी हुई हैं कि उन्हें सीधे-सीधे नाम देकर इंगित करना कठिन है। वस्तुतः शुक्लजी का संयम, मर्यादा-प्रियता, सामंजस्यमयी जीवन-दृष्टि, तत्वान्वेषिणी प्रज्ञा, स्वाभिमान, देश-प्रेम, सौन्दर्य-चेतना, आत्म-विश्वास, पसन्द, ना-पसन्द, रीझ और खीझ—ये सब उनकी गद्य-शैली को रूप देने में संघटक तत्व बन गये हैं। उनका शब्द-चयन, पद-योजना, वाक्य-विन्यास, व्यापार-बोधक क्रिया-प्रयोग, विशेषण-विधान या यों कहिये कि भाषा-रचना के सभी उपादान उनके व्यक्तित्व से जुड़े हुए हैं। उनके व्यक्तित्व के संघटक तत्वों से ही उनकी भाषा-चेतना का निर्माण हुआ है।" (श्रेष्ठ निबन्ध, पृ० 34)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की गद्य-शैली में जिन अपेक्षित गुणों का चरमोत्कर्ष मिलता है, उनके विषय में डॉ० द्वारकाप्रसाद सक्सेना का निम्न कथन उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा पा रहा है—

"शुक्लजी की रचना पद्धति में कौशल, सौष्ठव, सौन्दर्य, प्रभावात्मकता, साहित्यिकता, भाषा की सशक्तता, संश्लिष्ट वर्णन की योग्यता, सरलता, रुचिरता, प्रौढ़ता, प्रांजलता, आत्माभिव्यक्ति की तरलता, व्यंग्य-विनोद की तीव्रता, विचारों की क्रमबद्धता, विषय-प्रतिपादन की दक्षता आदि वे सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं, जो एक उत्कृष्ट गद्य-शैली में होती हैं।" 'हिन्दी प्रतिनिधि निबन्धकार' पृ० 165

शैली के विविध रूप—आचार्य शुक्ल के निबन्धों में प्रमुख रूप से विवेचनात्मक शैली का ही रूप देखने को मिलता है। इस शैली की दो पद्धतियों—आगमन पद्धति और निगमन पद्धतियों में से शुक्लजी ने प्रायः निगमन पद्धति का ही आश्रय ग्रहण किया है। उनकी निबन्ध-शैली में विवेचन के अतिरिक्त भावात्मक शैली तथा व्यंग्यात्मक शैली के भी दर्शन स्थान-स्थान पर हो जाते हैं। व्यास और समास शैलियों में से भी शुक्लजी ने प्रायः व्यास शैली का ही उपयोग किया है; किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उन्होंने समास शैली का बिल्कुल प्रयोग नहीं किया है। सूत्र रूप में विचारों को कस-कसकर भरने की प्रवृत्ति तो पदे-पदे मिलती है। उनके निबन्धों का कलेवर ही इस सूत्रात्मक शैली द्वारा रचा गया है।

विवेचन शैली—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में प्रायः इसी शैली का उपयोग हुआ है। चाहे वे भाव या मनोविकार विषयक निबन्ध हों अथवा आलोचनात्मक निबन्ध हों, यही शैली उनके सभी निबन्धों में प्रमुख रूप से प्रयुक्त रही है। विचार-सूत्रों के फैलाते समय, उनका समाहार करते समय, निबन्ध का प्रारम्भ करते समय और निबन्ध का अन्त करते समय इसमें एक विशिष्टता आ जाती है, जिसके विषय में डॉ० रामचन्द्र तिवारी की निम्न टिप्पणी द्रष्टव्य है—

"शुक्लजी की शैली मूलतः विचार और विवेचन की शैली है। उनके निबन्ध उनके बौद्धिक मंथन के परिणाम हैं। उनके छोटे से छोटे निबन्ध में भी अनेक दिशाओं में आगे बढ़कर चिन्तन करने की सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। उनके विचार-विवेचन का एक अपना क्रम है। प्रारम्भ में वे प्रतिपाद्य विषय को नपी-तुली शब्दावली में प्रस्तुत करते हैं। यह प्रस्तुतीकरण कहीं छोटी-सी तीन-चार पंक्तियों की भूमिका के साथ होता है, कहीं सीधे विषय को परिभाषित करते हुए। विषय को प्रस्तुत करने के बाद उसे वे अधिक से अधिक स्पष्ट करना चाहते हैं। इस स्पष्टीकरण या व्याख्या के क्रम में वे विचार-सूत्रों को फैलाते हैं।"

इसी विवेचनात्मक शैली की विशिष्टता के विषय में डॉ० तिवारी उनकी **समाहार करने की पद्धति** की ओर निम्न वाक्यों में संकेत करते हैं—

"विचार-सूत्रों को समेटते समय एक बार अपने मूल मन्तव्य को संक्षेप में उपस्थित करते हैं। निबन्धों के अन्त करने का भी उनका अपना ढंग है। कभी प्रतिपाद्य विषय की सबसे विलक्षणता का उल्लेख करते हुए, कभी उसके पूर्ण स्वरूप की व्यंजना को उदाहृत करते हुए, कभी सामाजिक जीवन में उसकी स्थिति को स्पष्ट करते हुए, कभी शील की दृष्टि से उसके महत्व की स्थापना करते हुए वे अपने निबन्धों का अन्त करते हैं।"

इस विवेचनात्मक शैली के अन्तर्गत आने वाली दो पद्धतियाँ होती हैं या हो सकती हैं—

(1) आगमन पद्धति, और

(2) निगमन पद्धति।

इनमें से खोजने पर तो आगमन पद्धति भी कहीं-कहीं मिल ही जायगी परन्तु शुक्लजी ने निगमन पद्धति का ही अधिकांश प्रयोग किया है। इसके सम्बन्ध में डॉ० शिवनाथ ने निम्न विचार व्यक्त किये हैं—

"निगमन शैली में प्रबन्धक के आरम्भ में ही समास वा सूत्र रूप में विचारों वा सिद्धान्तों को व्यक्त किया जाता है और तत्पश्चात् व्यक्त विचारों व सिद्धान्तों का प्रतिपादन उदाहरणों और तर्कों द्वारा किया जाता है, जिससे व्यक्त विचार स्पष्ट हो जाते हैं। कहना न होगा कि इस शैली के निबन्ध विचारात्मक ही होंगे और उनका लेखक एक गम्भीर व्यक्ति। आचार्य शुक्ल के सभी निबन्ध इसी शैली पर लिखे गये हैं। निबन्ध की निगमन शैली को समास शैली भी कहा जाता है।

उदाहरण के लिए 'उत्साह' नामक निबन्ध के प्रारम्भ के अंश को उद्धृत किया जा सकता है—

"दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनन्द के वर्ग में उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के नियम से विशेष रूप में दुखी और कभी-कभी उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान् भी होते हैं— जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है, उन सबके प्रति उत्कण्ठापूर्ण आनन्द उत्साह के अन्तर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं × × × सारांश यह है कि आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा में ही उत्साह का दर्शन होता है, केवल कष्ट सहने में, निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।"

भावात्मक शैली का सह-अस्तित्व—विवेचनात्मक शैली के चलते-चलते शुक्लजी श्रम-परिहार के लिए या सरसता का संचार करने के लिए अपने विवेचन को शुष्क और भाराक्रान्त कर देने से बचाते हैं तभी वे **भावात्मक शैली के सह-अस्तित्व** की योजना करते हैं। विचारों की गूढ़-गुम्फित परम्परा के बीच जहाँ आचार्य शुक्ल का हृदय रमण करने लगता है। वहीं इस भावात्मक शैली के दर्शन होने लगते हैं। डॉ० रामचन्द्र तिवारी ने एक ऐसा उदाहरण दिया है, जिसमें आलंकारिक शैली को अपनाते हुए भी शुक्लजी ने भावात्मक शैली को ही सर्वोपरि स्थान दिया है। यह उदाहरण 'श्रद्धा और भक्ति' शीर्षक निबन्ध के दूसरे पैराग्राफ के अन्त से दिया गया है —

"कर्त्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं × × × कर्त्ता अपने सत्कर्म द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र में मनुष्य की सद्वृत्तियों के आकर्षण का एक शक्ति-केन्द्र हो जाता है। जिस समाज में किसी ज्योतिष्मान शक्ति-केन्द्र का उदय होता है, उस समाज में भिन्न-भिन्न हृदयों से शुभ भावनाएँ मेघ-खण्डों के समान उठकर तथा एक ओर और एक साथ अग्रसर होने के कारण परस्पर मिलकर, इतनी घनी हो जाती हैं कि उनकी घटा-सी उमड़ पड़ती है और मंगल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुःख और क्लेश बह जाते हैं।"

डॉ० रामचन्द्र तिवारी ने इस उदाहरण के विषय में **भावात्मक शैली** की विद्यमानता और उसके संयोजन की कुशलता की निम्न वाक्यों में भूरि-भूरि प्रशंसा की है—

"ऐसे अलंकृत गद्य-विधान के मूल में भी लेखक की भावात्मक वृत्ति ही प्रधान है। वस्तुतः वह श्रद्धा के आश्रय ज्योतिष्मान शक्ति-केन्द्र के अभ्युदय पर मुग्ध होकर ही काव्यात्मक एवं अलंकृत गद्य रचने में प्रवृत्त हुए हैं। तात्पर्य यह है कि शुक्लजी के निबन्धों में विचारों की व्यवस्थित परम्परा के भीतर कहीं-कहीं भावात्मक गद्य विधान भी मिल जाता है।"

व्यंग्यात्मक शैली—चूँकि आचार्य शुक्ल स्वभाव से आदर्शवादी थे, इसलिए मानव-मूल्यों का विघटन उन्हें कतई पसन्द नहीं था। इसीलिए ऐसे लोगों पर वे अचूक-व्यंग्य करते थे, जो उनके आदर्श से पतित होते हैं। 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्ध से एक उदाहरण देकर इस कथन की पुष्टि की जाती है—

"लोभियो ! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है; तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो। तुम्हें धिक्कार है।"

इस प्रकार के व्यंग्य शुक्लजी के निबन्धों में भरे पड़े हैं। ऐसे स्थलों की एक विशेषता यह भी है कि शुक्लजी की भाषा चलताऊ हो जाती है; यथा—'काजीजी दुबले क्यों, शहर के अन्देशे से" तथा "मैंने कुत्ते के कई शौकीनों को अपने कुत्ते की बदतमीजी पर शरमाते देखा है"।

सूत्रात्मक शैली—अनेक निबन्धों में, विशेषतया मनोविकार विषयक निबन्धों में प्रघट्टकों के प्रारम्भ में ऐसे सूत्रात्मक वाक्यों की रचना शुक्लजी ने की है, जिनकी बहुत देर तक व्याख्या करते चले जाते हैं। विचारों को कस-कसकर ऐसे वाक्यों में प्रस्तुत करते समय ही यह सूत्रात्मक शैली प्रयुक्त की गयी है। इसके विषय में डॉ० शिवनाथ की यह टिप्पणी देखिए—

"ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल पहले थोड़े में कुछ कह लेते हैं तब उसकी व्याख्या करते हैं। अभिप्राय यह है कि सूत्र रूप में कहने की प्रवृत्ति उनमें विशेष है. और वे थोड़े में बहुत कुछ कह जाते हैं। थोड़े ही में अधिक कहने की प्रवृत्ति के कारण आचार्य शुक्ल ने मनोविकारों पर लिखे गये निबन्ध में कुछ अति विस्तृत अर्थ-गर्भ सूत्रों का निर्माण किया है, जो उनकी अनुभवशीलता तथा उनके रचना-कौशल का द्योतक है।" (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 250)

इसका अधिक विवेचन न करके कुछ ऐसे वाक्यों को नीचे उद्धृत किया जाता है, जिनमें सूत्रात्मक शैली का प्रयोग किया गया है—

(1) समस्त मानव जीवन के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं।
—('भाव या मनोविकार' से)

(2) प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग भी रहता है।
—('उत्साह' से)

(3) श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। ('श्रद्धा और भक्ति' से)

(4) सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है।

(5) मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है।

(6) करुणा सेंत का सौदा नहीं है। (तीनों—'करुणा' से)

(7) दूसरों की ओर द्रवित करने वाली हृदय की दो कोमल वृत्तियाँ हैं—करुणा और प्रेम।" ('लोभ और प्रीति' से)

(1) श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त।
(2) प्रेम में घनत्व होता है और श्रद्धा में विस्तार।
(3) इधर वे हाथ जोड़ेंगे, उधर वे हाथ छोड़ेंगे।

विस्तारभय के कारण, अन्त में, आचार्य शुक्ल की भाषा के विषय में डॉ० शिवनाथ के निम्न कथन को उद्धृत करके प्रस्तुत प्रसंग का समापन किया जाता है—

"आचार्य शुक्ल के समीक्षात्मक निबन्धों में तत्सम शब्दों का प्राधान्य है। वे साहित्यिक विषयों पर लिखे भी गये हैं। चाहे मनोविकारों पर लिखे गये निबन्ध हों अथवा समीक्षा पर, उन सबकी भाषा बड़ी ही गठी, मँजी, प्रौढ़ और विषय-प्रतिपादन-क्षम है। यदि सुरुचिपूर्ण पाठक उन्हें पढ़ें तो विदित होगा कि उनके एक-एक वाक्य के शब्द मोतियों की लड़ी की भाँति स्निग्ध हैं, उनमें खुरदुरापन कहीं भी नहीं मिलता।"

व्याख्याएं

गद्यावतरण (1)—प्रेम और श्रद्धा में अन्तर यह है कि प्रेम स्वाधीन कार्यों पर उतना निर्भर नहीं—कभी-कभी किसी का रूप मात्र, जिसमें उसका कुछ भी हाथ नहीं, उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होने का कारण होता है पर श्रद्धा ऐसी नहीं है। किसी की सुन्दर आँख या नाक देखकर उसके प्रति श्रद्धा नहीं उत्पन्न होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे; पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। **श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकांत। प्रेम में घनत्व होता है और श्रद्धा में विस्तार।** किसी मनुष्य से प्रेम रखने वाले दो ही एक मिलेंगे, पर उस पर श्रद्धा रखने वाले सैकड़ों, हजारों, लाखों क्या करोड़ों मिल सकते हैं। (निबन्ध-विविधा, पृ० 53)

प्रसंग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा रचित प्रस्तुत गद्यांश चिन्तामणि भाग-1 में संकलित 'श्रद्धा-भक्ति' नामक निबन्ध से उद्धृत है। यहाँ शुक्लजी प्रेम और श्रद्धा में अन्तर स्थापित करते हुए श्रद्धा उत्पन्न होने के कारणों पर प्रकाश डालते हैं—

व्याख्या—आचार्य शुक्ल जब श्रद्धा नामक मनोविकार की व्याख्या कर रहे थे तो उन्होंने समझाया कि जब हम किसी महान् व्यक्ति के किसी गुण पर रीझकर मुग्ध और आनन्दित होते हैं उस स्थायी आनन्द पद्धति को श्रद्धा कहते हैं। इसका तात्पर्य स्पष्ट करते हुए वे यहाँ यह बात कहते हैं कि श्रद्धा सदैव किसी गुण या कर्म विशेष के कारण उत्पन्न होती है। इससे मिलता-जुलता एक अन्य मनोविकार है प्रेम। इसमें भी मनुष्य के हृदय में आनन्द पद्धति की स्थापना होती है। परन्तु प्रेम के लिए यह आवश्यक नहीं है कि जिस व्यक्ति के प्रति प्रेम उत्पन्न हो वह महान् गुणों

(4) सूत्र रूप में बहुत कुछ कहने वाले प्रथम और अन्तिम दो-तीन वाक्यों में विचारगर्भितता द्रष्टव्य है।

गद्यावतरण (2)—सच पूछिये तो इसी श्रद्धा के आश्रय से उन कर्मों के महत्व का भाव दृढ़ होता रहता है, जिन्हें धर्म कहते हैं और जिनमें मनुष्य समाज की स्थिति है। कर्त्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं। कर्म की क्षमता प्राप्त करने के लिए बार-बार कर्ता ही की ओर आँख उठाती है। कर्मों से कर्त्ता की स्थिति को जो मनोहरता प्राप्त हो जाती है उस पर मुग्ध होकर बहुत से प्राणी उन कर्मों की ओर प्रेरित होते हैं। कर्ता अपने सत्कर्म द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र में मनुष्य की सद्वृत्तियों के आकर्षण का एक शक्ति-केन्द्र हो जाता है। जिस समाज में किसी ज्योतिष्मान् शक्ति-केन्द्र का उदय होता है, उस समाज में भिन्न-भिन्न हृदयों से शुभ भावनाएँ मेघ-खण्डों के समान उठकर तथा एक ओर और एक साथ अग्रसर होने के कारण परस्पर मिलकर, इतनी घनी हो जाती हैं कि उनकी घटा-सी उमड़ पड़ती है और मंगल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुःख और क्लेश बह जाते हैं।

(निबन्ध-विविधा, पृष्ठ 53-54)

प्रसंग—'श्रद्धा-भक्ति' शीर्षक निबन्ध में आचार्य शुक्ल ने श्रद्धा द्वारा कर्म-प्रेरणा और सद्वृत्तियों के उदय तथा किसी समाज में महान् व्यक्ति के प्रति श्रद्धा करने वालों के एक वर्ग के लोक-मंगलकारी रूप की चर्चा की है—

व्याख्या—सर्वप्रथम तो आचार्य, श्रद्धा नामक मनोविकार का महत्व स्थापित करना चाहते हैं और उसे कर्म-सौन्दर्य का मूल आधार तथा प्रेरक तत्व मानते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि मनुष्य जिन गुणों के कारण किसी महान् व्यक्ति के प्रति श्रद्धा रखता है, उसके गुणों और कर्म-सौन्दर्य को अपने जीवन में भी उतारने की चेष्टा करता है। इसी प्रकार सत्कर्म करने की प्रेरणा उसे मिलती है। ये सत्कर्म ही तो धर्म की परिधि में आते हैं, जिनके कारण किसी समाज की व्यवस्था दृढ़ होती है।

कर्त्ता के विषय में पुनः शुक्लजी यह धारणा व्यक्त करते हैं कि जो व्यक्ति सुन्दर-सुन्दर कर्म करता है, उसके उन कर्मों को सामने रखकर ही तो करोड़ों लोग उस पर श्रद्धा करते हैं। इसलिए उन लोगों की बार-बार यही इच्छा होती है कि हम जिसे श्रद्धा करते हैं, विशेषतया उसके माध्यम से कर्म-सौन्दर्य की ओर देखते रहें, जिसके कारण वह हमारा श्रद्धेय बना है। इसीलिए कर्त्ता को ही शुक्लजी ने कर्म का मूर्त रूप बताया है, जिसे सामने रखकर श्रद्धालु उसके कर्म-सौन्दर्य के प्रति श्रद्धा रखते हैं, और उसी कर्म-सौन्दर्य को अपने जीवन में उतारना चाहते हैं। उस श्रद्धेय में जो कर्मों की मनोहरता होती है उस पर मुग्ध होकर हजारों श्रद्धालु उन कार्यों को करने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं। इस प्रकार वह महान् व्यक्ति अपने कर्म-सौन्दर्य के कारण बड़े व्यापक क्षेत्र में अपना प्रभाव जमाता है और उसके चारों ओर

कर्म-विधान या महान् गुणों की विद्यमानता को अनिवार्य मानते हैं और इसी बात को स्पष्ट करने के लिए प्रेम और श्रद्धा की तुलना करते हैं—

व्याख्या—कौन आदर्श प्रिय हो सकता है और कौन आदर्श श्रद्धेय, इस बात पर विचार करते हुए शुक्लजी की मान्यता व्यक्त की गई है कि प्रिय का आदर्श रूप तो केवल प्रिय के शरीर को आधार मानकर बन सकता है, जबकि श्रद्धेय के आदर्श रूप के निर्माण के लिए कुछ कर्म-तन्तु का विस्तार हुआ हो तभी उन कर्मों के आधार मानकर श्रद्धेय का आदर्श रूप खड़ा होगा। प्रेम में और श्रद्धा में यही फर्क है कि प्रेमी तो अन्धा होकर, संसार को एकदम भुलाकर, उसकी उपेक्षा करके प्रिय का ध्यान, मनन, चिन्तन कर सकता है परन्तु श्रद्धेय के विषय में हमें पूर्ण सजग और संसार के लिए वह कितना भला है, कितना लोक-मंगलकारी है, इसका ध्यान बराबर करना पड़ता है।

इसी कारण शुक्ल जी ने दोनों मनोभावों की तुलना करते समय परस्पर विरोधी भाव ठहरा दिया है कि जितना अन्तर स्वप्नावस्था और जाग्रत अवस्था में होता है उतना ही अन्तर प्रेम और श्रद्धा में होता है। क्योंकि प्रेम में तो आदमी कल्पना लोक, हवाई दुनियाँ में खोया रहता है जबकि श्रद्धा में उसे पूर्ण चैतन्य के साथ श्रद्धेय के गुणों, उसके सत्कर्मों के विषय में विवेचन, मनन करना पड़ता है।

प्रेम और श्रद्धा में तीसरा अन्तर यह भी है कि प्रेम में प्रिय अपने लिए प्रेमी को चाहता है और उसे पाने के लिए या अपने को प्रेमी को सौंपने के लिए उसकी इच्छा प्रायः यही रहती है कि दुनियाँ भाड़ में जाए उसे क्या पड़ी है। बस दुनियाँ से कटकर, पूर्ण एकान्त में, दुनियाँ से बहुत दूर जाकर वह तथा प्रेमी दोनों एक-दूसरे में खो जाएँ। इसलिए प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं। एक तो प्रिय और दूसरा प्रेमी। वहाँ इन दोनों के बीच में तीसरे पक्ष की जरूरत ही नहीं होती, परन्तु श्रद्धा में श्रद्धेय एवं श्रद्धालु के बीच एक तीसरा पक्ष आवश्यक और अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है। वह है श्रद्धेय का कर्म-विधान या गुणों के अर्जित करने वाला कर्म-सौन्दर्य, इसलिए प्रेम और श्रद्धा में यह अन्तर हुआ कि प्रेमी और प्रिय के बीच किसी मध्यस्थ की जरूरत नहीं होती और न वे बीच वाले को बरदाश्त ही करेंगे जबकि श्रद्धेय और श्रद्धालु के बीच की कड़ी आवश्यक और अनिवार्य रूप से मध्यस्थता करने वाला कर्म होना चाहिए।

विशेष—(1) प्रेम और श्रद्धा में तुलना करते हुए प्रमुख आधार तो यही माना गया है कि प्रेम तो अन्ध उद्वेग से उत्पन्न हो सकता है परन्तु श्रद्धा के लिए सत्कर्मों का आधार बहुत आवश्यक है।

(2) श्रद्धेय तक सीधा न पहुँचकर उसके गुणों को देखकर श्रद्धालु पहले मुग्ध होता है अर्थात् एक सीढ़ी बीच में पड़ती है वह है कर्म-सौन्दर्य। इस प्रकार श्रद्धा भाव के लिए संसार में सत्कर्म विधान आवश्यक माना गया है। अतः श्रद्धा सामाजिक भाव है—वैयक्तिक नहीं।

(3) 'यदि प्रेम स्वप्न है.....तथा 'प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं श्रद्धा में तीन' इन दोनों वाक्यों में जहाँ **तुलनात्मक पद्धति** के दर्शन होते हैं वहीं **प्रवाहपूर्ण वाक्य संरचना** के आधार पर काव्यमय गद्य का स्वरूप भी देखा जा सकता है।

(4) **विवेचनात्मक शैली** और तदनुरूप उच्चस्तरीय परिनिष्ठित, **संस्कृत-निष्ठ शब्दावली** के प्रयोग द्वारा भाषा का शृंगार किया गया है।

(5) प्रेम की तुलना में श्रद्धा को महत्वपूर्ण मानने के पीछे शुक्लजी की **लोकमंगलवादी दृष्टि** ही कार्य कर रही है।

गद्यावतरण (4) सारांश यह कि श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों आदि पर आ जाती है। एक में व्यक्ति को कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरे में कर्मों द्वारा। एक में कर्म प्रधान है, दूसरी में व्यक्ति। (निबन्ध-विविधा, पृ० 55)

प्रसंग—पूर्ववत्।

व्याख्या—श्रद्धालु जब श्रद्धेय तक पहुँचना चाहता है तो पहले उसकी दृष्टि उसके गुणों या सत्कर्मों पर पहुँचती है तब उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है और जब श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है तब श्रद्धेय के आस-पास मंडराने, उसकी स्नेह दृष्टि पाने की आकांक्षा बलवती होती है। प्रेम में इसके ठीक विपरीत होता है। प्रेमी पहले सीधे प्रिय पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और जब वह प्रिय को पा लेता है तब उसके प्रत्येक कार्य को ध्यान से देखता है अर्थात् प्रिय का हँसना, खाना, पहनना घूमना-फिरना सब कुछ उसे अच्छा लगने लगता है।

इस प्रकार शुक्लजी की स्थापना है कि श्रद्धा के क्षेत्र में श्रद्धेय को जो मनोहरता प्राप्त होती है उसका आधार होता है उसका सत्कर्म-विधान जबकि प्रेम में ठीक इसका उल्टा होता है उसमें कर्मों को जो मनोहरता प्राप्त होती है या प्रिय के जो कार्य मनोरम लगने लगते हैं, वह मनोहरता प्रिय के कारण आती है। अर्थात् यदि वह कार्य प्रिय के नहीं होते किसी अन्य के होते तो प्रेमी को अच्छे, मनोहर नहीं लग सकते थे।

इसीलिए शुक्ल जी का निष्कर्ष है कि श्रद्धा में तो कर्मों की प्रमुखता या प्रधानता होती है जबकि प्रेम में उस व्यक्ति की प्रमुखता होती है, जिसके प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। उसके कर्म तो बाद में ध्यान में आते हैं अर्थात् गौण होते हैं।

विशेष—(1) श्रद्धा में कर्म और प्रेम में व्यक्ति की प्रधानता को आधार मानकर दोनों भावों में अन्तर-भेदक रेखाएँ खींची गई हैं।

(2) तुलनात्मक पद्धति के लिए अन्तिम दो वाक्यों को काव्यात्मक, प्रवाहपूर्ण बनाकर गद्य को काव्योचित गरिमापूर्ण बना दिया गया है।

(3) आगमन पद्धति द्वारा विवेचनात्मक शैली का रूप खड़ा किया जाता है।

(4) भाषा सर्वथा उपयुक्त, साहित्यिक प्रौढ़, एवं परिष्कृत है।

गद्यावतरण (5)—"काव्य पर शब्दालंकार आदि का इतना बोझ लादा गया कि उसका सारा रूप ही छिप गया। यह बात हुई कि इन विविध कलाओं के जितने अभ्यासगम्य और श्रमसाध्य अंग थे, वे तो हद से बाहर घसीटे गये और जितने सहृदयता से सम्बन्ध रखने वाले थे, उन पर ध्यान ही न रहा। यदि ये कलाएँ मूर्तिमान रूप धारण करके सामने आतीं तो दिखाई पड़ता कि किसी को जलोदर हुआ है, किसी को फीलपाँव। इनकी दशा सोने और रत्नों से जुड़ी गुठली-धार तलवार की-सी हो गयी।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 59)

प्रसंग—श्रद्धा-भक्ति नामक निबन्ध में शुक्लजी ने साधन सम्पत्ति-सम्बन्धिनी श्रद्धा की चर्चा करने पर कलाओं—देशी कारीगरी, चित्रकारी और संगीत आदि का हवाला देकर उनमें अत्यन्त सजावट को या अभ्यास को रसानुभूति का, कलाओं के साध्य का गला घोंटने वाला बताया है।

व्याख्या—चित्रकला में बारीकी, संगीत में शास्त्रीयता और स्वर की कवायद को लेकर चुटकी लेते हुए शुक्लजी ने काव्य के विषय में भी यही टिप्पणी की है कि काव्य में अलंकारों की बहुलता से उसका प्राणतत्व—रसानुभूति - इतना उपेक्षित हो जाता है या दब जाता है कि काव्य का वास्तविक सौन्दर्य ही छिप जाता है। इस प्रकार शुक्लजी ने कलाओं की आलोचना के क्षेत्र में अपनी यह मान्यता व्यक्त की कि कलाओं को बहिरंग साज-सज्जा पर जितना अधिक ध्यान दिया जायगा, उतना ही उनका अंतरंग पक्ष (भावगत सौन्दर्य) उपेक्षित हो जाने से कलाओं का मुख्य साध्य ही गौण हो जायगा और साधन पर अधिक ध्यान हो जाने से साध्य की अवहेलना होगी।

इसी कारण निष्कर्ष देते हैं कि कलाओं के जितने अभ्यास और श्रम से कलाओं के अंगों का पोषण करने में सीमाओं से अधिक (तादाद से ज्यादा) रुचि ली गयी और कलाओं के वे अंग जो भाव-लोक (रसानुभूति) से सम्बन्ध रखते हैं, उसकी उपेक्षा की गयी। शुक्लजी यह कल्पना करने को कहते हैं कि यदि कलाएँ साकार रूप धारण करें तो इतनी उपहासनीय बनकर सामने आयेंगी, इतनी बेतुकी और अनुपातीय विकास न वाली होकर 'कार्टून' बन जाएँगी और उनके (कलाओं के) शरीर में ऐसा एकांगीपन दिखाई देगा जैसा कि फीलपाँव रोग के रोगी (इनका पैर हाथी का-सा मोटा हो जाता है) की हालत हो जाती है अथवा जलोदर (इस रोग में पेट में पानी उतर आने से पेट फूलकर भौंड़ा और बेतुका लगता है) रोग के रोगी जैसी हालत हो जाती है। एक अन्य उदाहरण देकर इन कलापक्ष-प्रधान कलाओं की हालत ऐसी बताते हैं, जो ऐसी तलवार की हो जाती है, जिसकी धार तो भोंथरी हो किन्तु वैसे उसकी मूँठ सोने की हो और उसमें रत्न जड़ दिये गये हों। अर्थात् तलवार का मुख्य कार्य या उद्देश्य है तेज धार से काटना, वह तो पूरा हो नहीं और

ऊपरी साज-सज्जा कर दी गयी हो तो तलवार का मूल धर्म ही नष्ट हो जायगा। उसी प्रकार कलाओं का मूल उद्देश्य (रसानुभूति, भावात्मक सौन्दर्य की स्थिति) तो विनष्ट हो जाय और बाहरी साज-सज्जा पर अधिक ध्यान दिया जाय, तो यह बहुत अनुचित कार्य होगा।

विशेष—(1) शुक्लजी ने साधन-सम्पन्न श्रद्धा की इसीलिए आलोचना की है कि यह श्रद्धा केवल बाहरी चमक-दमक, साज-सज्जा पर आधारित होती है।

(2) कलाओं की आत्मा रस है, यह दृष्टिकोण रसवादी मान्यता पर आधारित है।

(3) कलाओं के बहिरंग पक्ष पर अधिक ध्यान देना कलावादी समीक्षा के अन्तर्गत आता है, जिसकी कटु-आलोचना करके आचार्य शुक्ल ने अपनी रसवादी आलोचना-दृष्टि का परिचय दिया है।

(4) विवेचनात्मक शैली के ठीक अनुरूप स्तरीय भाषा के साथ-साथ व्यंग्यात्मक शैली के अनुरूप चलती भाषा के शब्द--घसीटा, हद से बाहर, बोझ, जलोदर, फीलपाँव, गुठली धार आदि का प्रयोग किया गया है।

गद्यावतरण (6)—श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के समीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। जब श्रद्धेय के दर्शन, श्रवण, कीर्तन, ध्यान आदि से आनन्द का अनुभव होने लगे—जब उससे सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धा के विषयों के अतिरिक्त बातों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे, तब भक्ति-रस का संचार समझना चाहिए।

(निबन्ध-विविधा, पृष्ठ 65)

प्रसंग—आचार्य शुक्ल श्रद्धा-भक्ति नामक निबन्ध के उत्तरार्द्ध में भक्ति भाव की व्याख्या, परिभाषा देने का प्रयास करते हैं, प्रस्तुत गद्यांश में श्रद्धा से भक्ति भिन्न होती है यह तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है।

व्याख्या—पहले तो आचार्य शुक्ल भक्ति की परिभाषा देने के उद्देश्य से अंकगणित का-सा एक फार्मूला बनाते हैं कि श्रद्धा+प्रेम=भक्ति। इसका तात्पर्य यही है कि भक्ति में कुछ लक्षण श्रद्धा नामक मनोविकार के होते हैं और कुछ लक्षण प्रेम नामक मनोविकार के होते हैं। जब दोनों की भावना का योग हो जाता है—मिश्रण हो जाता है, तब भक्ति भाव का उदय समझिए। किसी महान् व्यक्ति के प्रति हमारे अन्तःकरण में जब पूज्य भाव का संचार होता है, तब उसके प्रति श्रद्धा का भाव माना जाएगा और जब हम उस महान् व्यक्ति के सामीप्य का, सान्निध्य का कमनीय भाव रखेंगे (हर समय उसके निकट बने रहना चाहेंगे) तब भक्ति-भावना

का उदय माना जायगा। हमारे हृदय में किसी महान् विभूति के प्रति जब तक सम्मान या पूजा का भाव ही बना रहेगा, तब तक उसे श्रद्धा की परिधि में माना जायेगा और जब उसमें यह भावना भी मिल जायगी कि हम उसके (श्रद्धेय) के विविध रूपों का दर्शन, मनन, चिन्तन आदि करना चाहने लगेंगे तब समझना चाहिए कि उस (श्रद्धेय) के प्रति हमारे मन में **भक्ति का भाव** जाग्रत हो गया है। इस प्रकार श्रद्धेय को देखने (दर्शन), उसकी शब्द-माधुरी सुनने (श्रवण), उसी का नामोच्चार करने, (कीर्तन) और हर समय उसी की स्मृति प्रबल होने (ध्यान) आदि क्रियाओं ने हृदय में आनन्द की अनुभूति होने लगे, तब समझना चाहिए कि यह तो भक्तिभाव जाग्रत हो गया है। यह निकट से देखना, चाहना आदि सब प्रेम के लक्षण हैं। ये सभी लक्ष्ण श्रद्धा के साथ-साथ (श्रद्धा के अतिरिक्त) उत्पन्न होने लगें तभी श्रद्धालु के हृदय में भक्ति रस का संचार मानना चाहिए। श्रद्धा से भक्ति के क्षेत्र में विकास करने के लिए सामीप्य लाभ की कामना आदि प्रेम के लक्षणों को मिलाना पड़ता है। श्रद्धा में यह आवश्यक नहीं होता कि श्रद्धेय के साथ हम अपने आत्मीय सम्बन्ध ही बना लें; परन्तु भक्ति में ऐसा अनिवार्यतः होता है।

इस प्रकार श्रद्धा और भक्ति में अन्तर देखना हो तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि श्रद्धेय के प्रति श्रद्धा भाव के साथ-साथ सामीप्य लाभ की कामना, उसके विविध रूपों के साक्षात्कार की लालसा और तज्जन्य आनन्द की प्राप्ति आदि की स्थिति जब होगी, तभी भक्ति-भावना का संचार माना जायगा।

विशेष—(1) भक्ति के लिए श्रद्धा के साथ प्रेम नामक मनोविकार का पुट लग जाना अनिवार्य माना गया है।

(2) प्रथम वाक्य सूत्रात्मक पद्धति में रचा हुआ होने से **समास शैली** का उपयोग किया गया है।

(3) **अंकगणित जैसी** सटीक एवं सार्थक विवेचना का स्तर दर्शनीय है।

(4) दर्शन, भ्रमण, कीर्तन, ध्यान आदि भक्ति के प्रकारों या भेदों (नवधा) भक्ति के विविध आयामों का उल्लेख किया गया है।

(5) श्रद्धा और भक्ति के मध्य विभाजक रेखा खींचने के लिए **तुलनात्मक** शैली का आधार ग्रहण किया गया है।

(6) भाषा उच्चस्तरीय, संस्कृतनिष्ठ एवं परिष्कृत, प्रांजल है।

गद्यावतरण (7)—"किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण वा शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है, उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है। यदि हमें निश्चय हो जायेगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर,

बड़ा सज्ज , बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बड़ा विद्वान, बड़ा परोपकारी या बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनन्द का एक विषय हो जायगा । हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे, उसे सामने देखकर आदर से सिर नवायेंगे; किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी हम सदा उसका भला चाहेंगे, उसकी बढ़ती से प्रसन्न होंगे और अपनी पोषित आनन्द-पद्धति में आघात पहुँचने के कारण उनकी निन्दा न सुन सकेंगे । इससे सिद्ध होता है कि जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है, उनका होना संसार को वांछित है । यही विश्व-कामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है ।

(निबन्ध-विविधा, पृ० 53)

शब्दार्थ—आनन्द पद्धति=आनन्द का प्रकार, आनन्द की स्थिति । महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति=किसी व्यक्ति को महान मानें और उसमें हमें आनन्द प्राप्त हो । पूज्य बुद्धि=विचार के स्तर पर सम्मान्य बुद्धि । बढ़ती=वृद्धि, विकास, समृद्धि । पोषित=पालकर रखी गयी, सम्भालकर स्थापित की गयी । विश्व-कामना=संसार के हित की इच्छा ।

प्रसंग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा चिन्तामणि भाग–1 में दिये गये 'श्रद्धा और भक्ति' नामक मनोविकार विषयक निबन्ध के प्रारम्भ में लेखक ने श्रद्धा की परिभाषा दी है तथा श्रद्धा करने वालों की मानसिकता का विश्लेषण किया है—

व्याख्या—आचार्य शुक्ल श्रद्धा की परिभाषा देते हुए श्रद्धा के लिए तीन बातों को आवश्यक मानते हैं । पहली श्रद्धेय जन-साधारण से विशेष गुण सम्पन्न होना चाहिए तभी उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगी । दूसरी श्रद्धा करने वाला इस भाव के कारण आनन्दित होता है अर्थात् दुःखी नहीं होता । अतः श्रद्धा का भाव आनन्द वर्ग में आता है । तीसरी, यह आनन्द-पद्धति स्थायी होती है, क्षणिक नहीं । पुनः आगे एक बात और जोड़ते हैं कि हम श्रद्धेय की महानता को स्वीकार करें तभी श्रद्धेय के प्रति श्रद्धा होगी, किन्तु उसके साथ अपनी पवित्र, शुद्ध, सात्विक, निःस्वार्थ भाव से विवेक—बुद्धि का भी उपयोग करें, यह भी श्रद्धा के लिए अनिवार्य तत्व है । किसी व्यक्ति की महानता का निश्चय हो जाने पर हम उसे श्रद्धा करने लगते हैं तो श्रद्धा करने वाले के अन्तर्मन में यह भाव पनपने लगते हैं । एक तो उसके पीछे उसकी प्रशंसा करने लगेंगे, दूसरे वह सामने आये तो उसके आगे विनम्रता का सम्मान का प्रदर्शन करेंगे, तीसरे उसके (श्रद्धेय) के वैभव या गुणों या सम्मान वृद्धि में होगी तो प्रसन्न होंगे । चौथी उसकी (श्रद्धेय की) निन्दा नहीं सुन सकेंगे क्योंकि प्रशंसा से हमारे अन्तःकरण में आनन्द का संचार होता है और निन्दा से उस आनन्द में बाधा उत्पन्न होगी । इसलिए श्रद्धेय की निन्दा होने पर लड़ मरेंगे । इसी आधार पर शुक्ल जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि संसार के लिए कल्याणकर, मंगल करने वाला भाव है श्रद्धा, अर्थात् श्रद्धा वांछनीय भाव है, अवांछनीय नहीं । संसार की इच्छा या विश्व का भला चाहने की इच्छा ही श्रद्धा नामक मनोविकार को जन्म देती है ।

विशेष—(1) पैराग्राफ के अन्त में 'इससे सिद्ध होता है' कहकर निष्कर्ष पर आने के कारण यहाँ **विवेचनात्मक शैली की आगमन पद्धति का प्रयोग** द्रष्टव्य है ।

(2) यदि हमें निश्चय हो जायगा·····निन्दा न सुन सकेंगे,—गज गद्यात्मक वाक्य है ।

,कविता क्या है ?
निबन्ध का सारांश

प्रश्न—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है ?' नामक निबन्ध में कविता से सम्बन्धित अनेक पक्षों के मर्म को उद्घाटित किया है ।

मानव संसार में अपने भावों और विचारों के विनिमय द्वाराअपना जीवन सुचारु रूप से व्यतीत करता है, किन्तु वह जब तक अपने हानि-लाभ, सुख-दुःख, योग-क्षेम, को अपनी परिधि तक सीमित रखता है, तब तक उसके विचार, उसकी दृष्टि, उसकी अभिव्यक्ति उसका हृदय सीमित रहता है, परन्तु ज्यों ही वह अपने विचारों को विराटत्व प्रदान करता है उसका हृदय समुद्र की अनन्त गहराई सदृश विशालत्व को प्राप्त करता है तब उसके सुःख-दुख, हानि-लाभ, योग-क्षेम उसकी न होकर संसार की हो जाती है और संसार के दुःख-सुख, हानि-लाभ, योग-क्षेम उसके हो जाते हैं क्योंकि उसकी संकुचित वृत्तियाँ उसके स्व से मुक्त होकर परत्व की ओर उन्मुख हो जाती हैं उसका अन्तःकरण धवलिमायुक्त और सात्विक हो जाता है उसके हृदय मन सब निर्मल हो जाते हैं । वह अनन्त भावलोक की तिथियों में विचरण करने लगता है तब वह इस सामान्य धरातल से उठकर अनन्त लोक का आस्वादन करता है वह सदैव इन संकुचित दायरों से मुक्त रहता है, सदैव रस से आप्लावित रहता है। हृदय की इस मुक्तावस्था को आचार्य शुक्ल ने रसदशा कहा है उन्हीं के शब्दों में—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है । हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं ।"

कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है । आचार्य शुक्ल, हृदय की मुक्तावस्था की स्थिति के लिए कविता को अत्यन्त आवश्यक उपादान मानते हैं । कविता आज के युग के व्यक्तियों का एक आवश्यक अंग बन गयी है इस कविता के माध्यम से ही व्यक्ति कुछ क्षण अपने को मुक्त रख पाता है और उसके माध्यम से रसदशा में डूबता है वह अपने समस्त अस्तित्व को कुछ समय का नकार देता है उसे अपने आस-पास की वस्तुएँ, मनुष्यों, वातावरण का भी ज्ञान नहीं रह पाता, कुछ क्षण वह इस आनन्दानुभूति के कारण अपने को 'मधुमती भूमिका' में प्रतिष्ठित कर देता है और उसकी चित्त वृत्तियाँ उदात्त हो जाती हैं जिससे उसके हृदय में आनन्द का संचार होता रहता है । वह कुछ क्षण के लिए मानवत्व में छिपे राक्षसत्व से मुक्त हो जाता है उसका हृदय

सरल हो जाता है। वैसे तो मनुष्य आज के इस छल-छद्म् से युक्त परिवेश से युक्त नहीं हो पाता और स्वयं इसका शिकार होते हुए भी छल-छद्म जैसी तुच्छ वृत्तियों में अपने मन-मस्तिष्क की शक्ति को व्यर्थ गँवा बैठता है। इस कविता के माध्यम से ही कुछ क्षण के लिए वह देवत्व को प्राप्त करता है और सही अर्थों में मानव कहलाने का अधिकारी होता है। ये सात्विक प्रवृत्तियाँ ही उसे निरन्तर प्रवृति के लिए प्रोत्साहित करती रहती हैं उसके हृदय में संगीत के स्वर झनझना उठते हैं उसका ससार के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वह निरन्तर प्रकृति के अंचल में असीम सुख को प्राप्त करता है प्रकृति के सुकुमार रूप पर भी साथ ही प्रकृति के तांडव में भी सुख का अनुभव करता है। प्रकृति प्रदत्त नदी, झरने, वृक्ष, वन, समुद्र, लता, मेघ, आकाश नक्षत्र उसे जितना आप्लादित कर सकते हैं उतना उसे मनुष्य निर्मित कृत्रिम पदार्थ, निर्माण उसे भाव-लोक की गलियों में विचरण करने को बाध्य नहीं कर सकते।

सभ्यता के आवरण और कविता—आज के इस सभ्यतावादी भौतिक युग में जटिलताएँ और जटिलतर होती गयी। इस वस्तुवादी भौतिक युग ने मनुष्यों को अपने आकर्षण में घेरा जरूर परन्तु वह शान्ति के लिए भटकने लगा। मानव का बाह्य रूप का निरीक्षण करने में वह सुख-सुविधा से सम्पन्न सुविधा जीवी वर्ग का प्रतिनिधि तो हो क्या परन्तु उसका अन्तर्मन नित्य नवीन छलनाओं के आवरण में जकड़ा लगा, वह हृदय की भाषा को भूलने लगा। ऐसी स्थिति में केवल बुद्धि और तर्क उसके मस्तिष्क में स्थान ले सकते हैं। सभ्यता का मुखौटा पहनकर वह घृणितघृणित से कार्य करने पर उतारू हो गया। सभ्यता ही उसके स्तर का आवश्यक अंग बनने लगी है। इस सभ्यता के आवरण के कारण उसके प्राचीन भाव उसके मनरूपी धरातल से मिटने लगे हैं वह केवल नवीन भावों के आकर्षण में अपने को बदलता जा रहा है जैसे—नवीनत। ही उसके जीवन का आवश्यक अंग बन गयी हो बेशक वह तथ्यविहीन हो। इस सभ्यता के नकाब के कारण वशीभूत होकर मानव आज प्राचीन जीवन मूल्यों, संस्कृति, मापदण्डों को तिलांजलि देता जा रहा है और इस आधुनिक बनने के व्यामोह में अपने अस्तित्व की वास्तविक सत्ता को नकारता जा रहा है। आज के इस भौतिकवादी मशीनी युग ने उसके संवेगों को समाप्त-सा कर दिया है वह स्वयं एक मशीनी मानव बनकर रहा गया है। आज सभ्यता के कारण उसकी सुरक्षा और रहन-सहन के तरीके बदल गये हैं पहले उसे अपनी जान का खतरा था फिर अपनी संतति का पर आज इन सबके साथ-साथ वह अपनी जान, सम्पत्ति, धन, प्रभुत्व, मानमर्यादा, भौतिक वस्तुएँ सभी की रक्षा करने के लिए तैयार हो गया है। आज ऐसी व्यस्तताओं से आच्छादित युग में कविता उसके लिए अधिक आवश्यक हो गयी है जो उसे कुछ क्षण के लिए जीने के लिए उत्साहित कर सके। काव्य में किसी वस्तु का उपयोग उसके समझने के लिए अधिक सार्थक समझा जाता है काव्य में अमूर्त विधान की अपेक्षा मूर्त विधान की सटीकता अधिक श्रेष्ठ ठहरती है, क्योंकि वह अर्थग्रहण करने की अधिक शक्ति रखती

है। कविता में अर्थग्रहण की अपेक्षा रस ग्रहण अधिक आवश्यक और उपयोगी है। इस प्रकार कविता का मूल उद्देश्य तो मुक्तावस्था की प्राप्ति कराना है।

कविता और सृष्टि प्रसार—कविता मनुष्य की बाह्य प्रकृति के साथ-साथ उसके अन्तःकरण के साथ सामञ्जस्य करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता का प्रसार करती है। वह मनुष्य को पशुत्व के धरातल से ऊँचे उठाकर मानवीय धरातल पर पहुँचाती है। यदि कविता में यह शक्ति नहीं होगी तो मनुष्य पशु की श्रेणी में ही अपनी गिनती कराने लगेगा। कविता मनुष्य की चित्तवृत्तियों में उदात्तता का संचरण करके रस की धारा प्रवाहित करती है। शुक्लजी ने काव्य के क्षेत्र को व्यापक मानते हुए उसके तीन महत्वपूर्ण पड़ाव रेखांकित किये हैं—

(1) नरक्षेत्र।
(2) मनुष्येतर बाह्य सृष्टि।
(3) समस्त चराचर

(1) **नरक्षेत्र**—संसार में सबसे अधिक कविता मनुष्य को केन्द्र में रखकर हुई है, मनुष्य की बाह्य प्रकृति कहीं आन्तरिक प्रकृति कविता में सदैव मुखरित होती रही है। कविता के केन्द्र-बिन्दु में मनुष्य को आधार बनाकर कभी खण्ड-काव्य और कभी महाकाव्य रचे जाते रहे हैं। आज जबकि कविता ने मापदण्ड बदले हैं। रचना-विधान, शैली, भाषा सभी कुछ सभ्यता के उतार-चढ़ाव के साथ-साथ अपना रूप-परिवर्तन करते रहे हैं फिर भी मनुष्य ही इसका मुख्य आधार रहा है। कहीं उसकी विषमताओं को, कहीं उसके सामाजिक, राजनीतिक, पारिवारिक, वैयक्तिक परिवेश को उभारा जाता रहा है, कहीं उसकी बाह्य और आन्तरिक द्वन्द्व ग्रस्त स्थितियों को। कहीं उसके सौन्दर्य-पक्ष को उभारा गया है कहीं विकास रूप को। शृंगार और प्रकृति-वर्णन जो कि निरन्तर मनुष्य की भावना को उद्दीप्त करते रहे हैं, उन्हें भी मनुष्य के परिप्रेक्ष्य में रखकर उभारा जाता रहा है।

(2) **मनुष्येतर बाह्य सृष्टि**—इस क्षेत्र में सदैव आलम्बन की प्रधानता रही है, प्रकृति को सदैव आलम्बन रूप में ही ग्रहण किया गया है हमारे संस्कृत कवियों ने प्रकृति को आलम्बन के रूप में ही स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए कवि कालिदास का कुमारसम्भव, वाल्मीकि का हेमन्त वर्णन, रघुवंश तथा मेघदूत सभी में प्रकृति आलम्बन रूप को ही स्वीकार किया गया है। सच्चा कवि प्रकृति के सिर्फ सौन्दर्य वाले पक्ष को ही उद्घाटित नहीं करता वह तो उसके विकराल पक्ष में भी सौन्दर्य के दर्शन करता है। उसे सुख में प्रकृति हँसती हुई तथा दुःख में करुण क्रन्दन करती हुई दृष्टिगोचर होती है। शुक्लजी ने प्रकृति के भव्य एवं सुन्दर रूप के अतिरिक्त साधारण रूप की चर्चा करके यह मान्यता व्यक्त की है कि अच्छा कवि साधारण रूप को भी रागात्मकता से युक्त बना देता है। शुक्लजी की यह भी मान्यता है कि प्रकृति को अलंकार के लिए चित्रित करना उसके मूल सौन्दर्य को

नष्ट करना है। काव्य के क्षेत्र में शुक्लजी अर्थ-ग्रहण की अपेक्षा बिम्ब-ग्रहण को श्रेष्ठ और उपयोगी मानते हैं।

(3) **समस्त चराचरपूर्ण काव्य-दृष्टि**—शुक्लजी इस अत्यन्त व्यापक एवं गम्भीर मानते हैं, कवि भेदभाव से ऊपर उठ जाता है। इस क्षेत्र में लेखक गूढ़ तथा प्रत्यक्ष तथ्यों की बात कहकर लेखक ने भाव-क्षेत्र में ज्ञानेन्द्रियों की भूमिका की प्रशंसा करता है। ज्ञान और बुद्धि के विस्तार से आगे जाकर कवियों को हृदय का विस्तार करने वाली रचनाएँ देनी चाहिए।

कविता और व्यवहार—भावों से प्रेरित होकर कर्म में प्रवृत्ति बढ़ जाती है। ज्ञान और बुद्धि कर्म की प्रेरणा नहीं दे सकती। कविता सर्वाधिक प्रेरणा देती है। काव्य को कर्म क्षेत्र का साधक मानकर लेखक कविता द्वारा संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकालकर समूची सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की और कविता द्वारा मन के परिष्कृत बनाने की सम्भावनाएँ व्यक्त करता है।

मनुष्यता की उच्च भूमि—शुक्लजी ने मनुष्यों के मनोभावों और उस पर होने वाली क्रियाओं को व्यापक बनाने में कविता की महत्वपूर्ण भूमिका मानी है। पशुओं की तुलना में मनुष्य इसी लिए श्रेष्ठ है कि उसका विस्तार प्राणिमात्र तक हो जाता है। कविता प्रकृति से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने, मनुष्यता की उच्च भूमि तक पहुँचाने, जड़ता और शुष्कता के स्थान पर सरसता का संचार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। तभी तो भावयोग की सर्वोच्च कक्ष पर पहुँचे व्यक्ति का समस्त विश्व के साथ तादात्म्य हो जाता है। उसकी अपनी निजी पृथक् भावसत्ता न रहकर उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है।

भाव या कल्पना—काव्यानुशीलन, उपासना तथा कविता द्वारा स्थापित भावयोग बराबर के स्तर के हैं। भावना या कल्पना में अपने चित्त में दूरस्थ वस्तुओं के दर्शन किये जाते हैं। अतः भाव-प्रवर्तन में कल्पना का भी उल्लेखनीय योगदान होता है। यह कल्पना विधायक और ग्राहक दो प्रकार की होती है। कवि के लिए विधायक कल्पना तथा पाठक के लिए ग्राहक कल्पना आवश्यक है; क्योंकि कवि भी जहाँ अधूरा छोड़ दे, पाठक अपनी कल्पना से उसे पूरा कर लेता है।

मनोरंजन—शुक्लजी की स्पष्ट घोषणा है कि केवल मनोरंजन ही कविता का उद्देश्य नहीं होता; अपितु मार्मिक पक्षों का चित्रण करके कविता प्राणिमात्र के साथ तादात्म्य करती है। कविता मनोरंजन करके एकाग्रता, स्थिरता लाती है। अतः पण्डितराज जगन्नाथ उसे रमणीय मानते हैं कहानी के साथ तुलना करके शुक्ल जी ने स्पष्ट किया कि कहानी में भाव प्रकाशन की क्षमता कविता की तुलना में कम होती है। उनके अनुसार कविता विलास की वस्तु कदापि नहीं।

सौन्दर्य—सौन्दर्य बाहर की किसी वस्तु में न होकर अन्तर्मन में व्याप्त होता है। बाहर की कोई वस्तु हमारे मन पर छा जाय, वही सौन्दर्यानुभूति है जिसके

सौन्दर्य के साथ दर्शक का मन एकाकार हो जाय, वही वस्तु सुन्दर होगी। अनुभूति और सौन्दर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। कविता रूप रंग का सौन्दर्य तो उभारती ही है साथ ही कर्म और मनोवृत्ति का सौन्दर्य भी उभारती है। कवि कुरूप वस्तुओं को भी रमणीय बना देता है। शुक्लजी के अनुसार सफल और उच्चकोटि का कवि नहीं है जो कुरूप को भी सुन्दरता का आवरण पहना दे। कवि अनेक प्रकार के सौन्दर्य की सृष्टि करके वर्ण्य वस्तु को प्रभावशाली बना देता है।

चमत्कारवाद—काव्य में शब्द-विधान द्वारा कल्पना, भावना, अनुभूति का उपयोग करके काम लिया जाता है। सामान्य स्तर के कवि अनोखापन, मनोरंजन या चमत्कार दिखाया करते हैं : जबकि उच्चकोटि के कवि चमत्कारपूर्ण उक्तियों के चक्र में नहीं फँसते। वर्ण-विन्यास की विशेषता, शब्द-क्रीड़ा आदि द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया जाता है। उच्चकोटि के कवि उक्ति-वैचित्र्य द्वारा भाव को मर्मस्पर्शी बनाते हैं। स्वाभाविकता और हृदयस्पर्शिता ही अच्छे काव्य के गुण हैं। कथन के अनूठेपन, चमत्कार को शुक्लजी ने सूक्ति कहा है : जबकि कविता का मुख्य उद्देश्य रसात्मकता की सृष्टि करना है। कुन्तक के हवाले से वक्रोक्ति की सार्थकता तभी है जब वह भावानुमोदित हो, अन्यथा केवल चमत्कार (कोरा चमत्कार) तो काव्य का गुण न होकर दोष ही है।

कविता की भाषा—भाषा को कविता का प्राण मानते हुए शुक्ल जी ने निर्जीव पदार्थों को सजीव रूप में रखने वाले कवि कर्म की ओर संकेत किया है। जाति संकेत वाले शब्दों की तुलना में व्यापारसूचक शब्दों का प्रयोग अधिक करना चाहिए। मूर्त विधान ही भाषा की सार्थकता है।

मानव मन में मूर्त रूप की स्थापना करना कविता का कार्य है ताकि अधिक समय तक अन्तर्मन में विद्यमान रह सकें। पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को काव्य में अप्रतीत दोष की संज्ञा देने का संकेत किया है। मूर्त विधान के साथ-साथ कविता नाद-सौन्दर्य के लिए संगीत का सहारा लेती है। वृत्त-विधान, लय अन्त्यानुप्रस द्वारा यह नाद सौन्दर्य उत्पन्न किया जाता है। नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है। तभी तो कविता का अर्थ जाने बिना केवल लय गुणगुनाकर भी आनन्द लिया जा सकता है। कविता की भाषा की चौथी विशेषता के रूप में व्यक्तिवाचक नामों के प्रयोग-औचित्य की चर्चा की गयी है कि अनेक पर्यायवाचियों में से प्रसंग के अनुकूल शब्द का ही चयन करके काव्य में प्रयुक्त करना चाहिए।

अलंकार—काव्य में भावनाओं का विकास, उन्हें उत्कर्ष प्रदान करने, रूप-रंग को अधिक उभारने में अलंकारों से सहायता लेने का शुक्लजी ने उल्लेख किया है। अर्थात् अलंकार काव्य के साधन मात्र हैं साध्य नहीं। अप्रस्तुत वस्तु योजना, वाक्य वक्रता अथवा वर्ण विन्यास के लिए लाये गये क्रमशः सादृश्यमूलक, विरोध मूलक या अनुप्रासादि शब्दालंकार सभी प्रस्तुत भाव के उत्कर्ष में ही (साधन रूप में)

सार्थक माने जा सकते हैं। वस्तुगत रमणीयता को काव्य का चरम लक्ष्य माना है। वर्ण्य वस्तु का निर्देश करना रस का विषय है न कि अलंकार का।

कविता पर अत्याचार—शुक्लजी की मान्यता है कि जिस अलकार से सुन्दर वर्णन को शोभा में वृद्धि नहीं होती, वह काव्य का अलंकार (शोभा बढ़ाने वाला धर्म) नहीं माना जा सकता। कविता द्वारा अपात्रों की स्तुति करने वाले कवियों पर शुक्लजी ने कविता के साथ अत्याचार करने का आरोप लगाया है। क्योंकि कविता का उद्देश्य स्वार्थ साधन, लोभ की परितुष्टि या संकुचित भावनाओं तक सीमित रहता नहीं है। शुक्लजी कविता को विलास की वस्तु भी मानने को कदापि तैयार नहीं हैं। कविता स्वाभाविक और साधारण से साधारण वस्तुओं द्वारा भी सौन्दर्य ग्रहण कराने की क्षमता रखती है।

कविता की आवश्यकता—प्रस्तुत निबन्ध के अन्त में आचार्य शुक्ल कविता को ज्ञान-विज्ञान, शास्त्र ज्ञान आदि से भी अधिक आवश्यक मानते हैं। प्रत्येक देश, प्रत्येक काल, प्रत्येक समाज में कविता विद्यमान रहती है। फिर आजकल विज्ञान के, यांत्रिकी के युग में तो कविता की आवश्यकता इसलिए और अधिक बढ़ जाती है क्योंकि मनुष्य के हृदय में मनुष्यता के स्रोत को कविता ही तो प्रभावित कर सकती है।

व्याख्याएँ

गद्यावतरण (1)—इन रूपों या व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर—अपने आपको बिल्कुल भूलकर—विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।

(निबन्ध-विविधा, पृ० 74)

प्रसंग—आचार्य शुक्ल ने 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध के प्रारम्भ में इस दशा की व्याख्या की है और कविता की परिभाषा भी दी है।

व्याख्या—आचार्य शुक्ल ने 'रस दशा' की व्याख्या के लिए पहले तो हृदय की मुक्तावस्था की चर्चा की है कि जब तक मनुष्य जगत् के अनन्त रूपात्मक क्षेत्र के नानारूपों और व्यापारों को अपने भले-बुरे, हानि-लाभ, या सुख-दुःख के साथ जोड़कर देखता रहता है तब तक वह इन रूपों और व्यापारों के साथ जुड़ा हुआ रहता है, इसे 'बद्ध' रूप माना गया है। किन्तु जब सांसारिक वस्तुओं और दृश्यों को देखकर भी उसके मन में कोई भाव नहीं उठता, उसको अपने को अलग करके अपने को भूल ही जाता है तब तक वह मुक्तावस्था प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अपने को

भूल ही जाना तथा केवल विशुद्ध अनुभूति का रह जाना, ये दो बातें ही मुक्त हृदय की पहचान है।

आचार्य शुक्ल हृदय और आत्मा की मुक्तावस्था को पृथक्-पृथक् देखकर उनके नामकरण भी करते हैं कि आत्मा की मुक्तावस्था तो ज्ञानदशा नाम से पुकारी जाती है कि जब आत्मा राग-विराग से ऊपर उठकर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाती है। और जब हृदय भी इसी प्रकार राग-विराग, रुचि-अरुचि के भेदों से ऊपर उठकर अपने को भूल ही जाता है, उसकी अन्तस्संज्ञा केवल अपनी अनुभूति मात्र में केन्द्रित हो जाती है, उसे 'रसदशा' कहकर पुकारा है।

अन्त में शुक्लजी कविता की परिभाषा देने की चेष्टा करते हैं कि कवियों की वह वाणी जिन शब्दों के माध्यम से 'रसदशा' को प्राप्त कराती है, उसे कविता की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। कविता के शब्दों को पढ़ने या सुनने पर जब किसी पाठक या श्रोता का हृदय उस कविता के भाव में इतना डूब जाय कि उसे (श्रोता या पाठक को) अपना भी होश न रहे कि वह कहाँ है, कौन है, तब वह रसानुभूति करता है। इसलिए आचार्य शुक्ल कविता द्वारा रसोद्रेक कराने के प्रमुख उद्देश्य की चर्चा प्रमुख रूप से करते दिखायी पड़ रहे हैं।

रसानुभूति में भावों में जब कविता का पाठक या श्रोता कविता के भाव में तल्लीन हो जाता है तो मानो वह कवि की अनुभूति के साथ जुड़ जाता है। इसी लिए इस रस दशा को शुक्लजी 'भावयोग' की संज्ञा प्रदान करते हैं और साथ ही इस भावयोग को अध्यात्म के क्षेत्र में जो स्थान कर्मयोग और ज्ञानयोग को प्राप्त है, उसी के बराबर दर्जा प्रदान करते हैं। अर्थात् इस दशा को योगियों की 'मुक्तावस्था' (समाधि अवस्था) के समकक्ष मानते हैं। क्योंकि आध्यात्मिक साधन में जैसे आत्मा और परमात्मा में एकात्म्य स्थापित होता है। उसी प्रकार इस दशा में कविता के श्रोता या पाठक की भावनाओं का कवि के भाव-जगत् के साथ तादात्म्य हो जाता है।

विशेष—कविता की जो परिभाषा शुक्लजी ने दी है, उस पर उनका **आलोचनात्मक मानदण्ड** ही हावी रहा है।

(2) रस दशा को बहुत महत्व प्रदान किया गया है।

(3) **सूत्र रूप में** विचारों को कस-कस कर भरने के कारण **समास शैली** का रूप आ गया है।

(4) **विवेचनात्मक शैली** के ठीक अनुरूप शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग शुक्ल जी के **विषयानुसारिणी** की भाषा-प्रयोग के सामर्थ्य का परिचायक है।

गद्यावतरण (2)—कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के सकुचित मण्डल से ऊपर उठकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है, इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता।

वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किये रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति योग के अभ्यास के लिए हमारे मनोविकार का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। (निबन्ध-विविधा पृ० 74-75)

प्रसंग—कविता द्वारा मानव का किस रूप में संस्कार किया जाता है, इस विषय में विचार करते हुए आचार्य शुक्ल 'कविता क्या है' निबन्ध के प्रारम्भ में लोकानुभूति पर बल देते हैं।

व्याख्या—जब कोई व्यक्ति कविता पढ़ता या सुनता है तब उसके हृदय में जो संस्कार पड़ता है, उसके कारण 'स्वार्थ' का संकुचित क्षेत्र धीरे पीछे छूटने लगता है और कविता पढ़ते-पढ़ते उसकी अनुभूतियाँ लोकानुभूतियों के साथ तादात्म्य करने लगती हैं। जनता जनार्दन के द्वारा, सामान्य जनों के द्वारा जो भाव अनुभूत किया जाता है, वही कविता के द्वारा उसके पाठक का भी भाव बना दिया जाता है। विविध प्रकार की भाव-भूमियों भरे इस जगत् में जो भी गतिविधियाँ या विविध दशाएँ हो सकती हैं, कविता उन्हीं का साक्षात्कार करती है।

कविता द्वारा पाठक या श्रोता की अनुभूति का परिष्कार किया जाता है। वह एक विशेष भाव-भूमि पर पाठक या श्रोता को पहुँचा देती है, जहाँ शुद्ध अनुभूतियाँ मात्र रह जाती हैं और संसार के सारे राग-द्वेष, वैर-प्रीति आदि स्वार्थमय भाव बहुत नीचे छूट जाते हैं। इस शुद्ध अनुभूति जगत् में पहुँच कर पाठक या श्रोता अपनी-सुध-बुध भी भूल जाता है। उसे अपना, अपने स्वार्थ का, यहाँ तक कि अपने पृथक् अस्तित्व तक का बोध नहीं रह जाता है।

कविता द्वारा जो भाव संचरित किया जाता है, वही भाव पाठक या श्रोता तक संक्रमित हो जाने के बाद उसका अपना वैयक्तिक बोध समाप्त होकर लोक सामान्य की भाव-भूमि में पहुँचने के बाद अपनी पृथक् सत्ता का विलीनीकरण कर देता है। अतः वह लोकमय हो जाता है। तब फिर पाठक या श्रोता जिस अनुभूति में डूबता है, उसी प्रकार की अनुभूति अनेक पाठकों या श्रोताओं की भी हो सकती है या होती है। अनुभूतियों का यह लोक में तादात्म्य ही **साधारणीकरण** की प्रक्रिया कहलाती है। यही रस दशा कहलाती है। जब कवि की अनुभूति का रसास्वादन कोटि-कोटि श्रोता या पाठक करते हैं और कवि की अनुभूतियों में ऐसे खो जाते हैं कि अपना होश भी उन्हें नहीं रहता।

इसे आचार्य शुक्ल ने अनुभूति-योग कहा है, जिसमें कवि की अनुभूतियाँ कविता रूपी नलिका के माध्यम से पाठक या श्रोता तक संक्रमित होकर समान रसानुभूति कराती है। इस प्रक्रिया से मानव के जो प्राकृतिक मनोविकार होते हैं, राग-द्वेष, क्रोध, बैर, लज्जा-ग्लानि आदि का परिष्कार करके उन्हें उदात्त भाव-भूमि पर कविता ही तो पहुँचाती है।

इस प्रकार कविता ही मनुष्य का सम्बन्ध जोड़ती है और समस्त संसार की अनुभूतियों के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

विशेष—(1) कविता द्वारा चित्तवृत्तियों के परिष्कार, उदात्तीकरण की प्रक्रिया पर बल देते हुए शुक्लजी ने कविता की **प्रभाव-शक्ति** का परिचय दिया है।

(2) कविता द्वारा सर्व-साधारण और व्यक्ति के बीच रागात्मक सम्बन्धों की स्थापना, रक्षा और निर्वाह किये जाने के आधार पर **कविता** की **सामाजिक भूमिका** को स्पष्ट किया गया है।

(3) कविता के द्वारा छोड़े गये प्रभाव की चर्चा पर आचार्य शुक्ल की **रसवादी** विचार धारा पर प्रभाव परिलक्षित होता है।

(4) **विवेचनात्मक** शैली द्वारा सिद्धान्त-निरूपण और विचार-प्रतिपादन की **उच्चस्तीय क्षमता** का पता चलता है।

(5) परिष्कृत, प्रांजल तथा संस्कृतनिष्ठ **शब्दावली** द्वारा भाषा का जो **गरिमापूर्ण** रूप प्रयुक्त है, वह विचार-विवेचन (शास्त्रीय मत प्रतिपादन) के ठीक अनुरूप ठहरता है।

गद्यावतरण (3)—"हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता वाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तः प्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है। यदि अपने भावों को समेट कर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशु वृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी।"

(निबन्ध-विविधा, पृ० 78)

प्रसंग—आचार्य शुक्ल ने 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध के उपशीर्षक 'कविता और सृष्टि प्रसार' के अन्तर्गत कविता की इस शक्ति का उल्लेख किया है कि वह मनुष्य की भावनाओं को व्यापक एवं विश्वजनीन बनाती है।

व्याख्या—कविता मानव की चित्तवृत्तियों एवं वाह्य जगत् के रूप तथा व्यापारों के साथ सामंजस्य स्थापित करा देती है। ऐसा करते-करते मानव की चित्तवृत्तियाँ व्यापकता होती चली जाती हैं और इस प्रकार शेष सृष्टि के भावों के साथ अपने हृदय के भावों को मिलाकर रखने से मानव में मनुष्यता का विकास होने लगता है। यही कारण है कि कविता द्वारा पाठक के भावनात्मक दृष्टिकोण में व्यापकता आ जाती है। वह अपने भीतर के भावों को वाह्य जगत् के नाना व्यापारों और प्रकृति तक के वाह्य सौन्दर्य के साथ ताल-मेल बिठा लेता है।

यदि मनुष्य जगत् के अन्य मानवों और मानवेतर प्रकृति के साथ तादात्म्य न बिठाये तो वह संकुचित स्वार्थ की परिधि में घिर कर रह जाएगा और ऐसा स्वार्थी मनुष्य पशुता के अधिक निकट होगा मनुष्यता के नहीं।

विशेष—(1)—कविता द्वारा मानव के भावों का उदात्तीकरण एवं उसके दृष्टिकोण को व्यापक बनाने का कार्य किया जाता है।

(2) कविता द्वारा मनुष्यता के विकास की चर्चा करके कविता की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

(3) आचार्य शुक्ल के लोकमंगलवादी दृष्टिकोण का परिचय प्राप्त होता है।

(4) विवेचनात्मक शैली का प्रयोग द्रष्टव्य है।

(5) उदात्त, गरिमापूर्ण भाषा का परिनिष्ठत रूप देखते ही बनता है।

गद्यावतरण (4)—तथ्य चाहे नर क्षेत्र के ही हों, चाहे अधिक व्यापक क्षेत्र के हों, कुछ प्रत्यक्ष होते हैं और कुछ गूढ़। जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे उस भाव का आलम्बन कहना चाहिए। ऐसे रसात्मक तथ्य आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं। फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों में संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।

(निबन्ध-विविधा, पृ० 86)

प्रसंग—आचार्य शुक्ल के 'कविता क्या है' निबन्ध के उपशीर्षक 'मार्मिक तथ्य' से उद्धृत उपर्युक्त गद्यांश में रसात्मक तथ्यों की उत्पत्ति की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है।

व्याख्या—कविता करते समय कवि को कुछ रसात्मक तथ्यों की आवश्यकता पड़ती है। ये तथ्य कवि मानव की मनोवृत्तियों से या मानवेतर प्रकृति के सौन्दर्य से जुटाता है। इस नर क्षेत्र की तुलना में व्यापकता क्षेत्र से लिये गये तथ्यों के कारण काव्य का स्तर अधिक व्यापक होने लगता है। अस्तु, ये रसात्मक तथ्य दो प्रकार के होते हैं—

(1) प्रत्यक्ष (2) गूढ़।

कुछ तथ्य ऐसे होते हैं जो पाठकों के हृदय में किसी भाव को जाग्रत करते हैं उन तथ्यों को भाव का आलम्बन कहा जाता है। ये रसात्मक तथ्य पहले तो ज्ञानेन्द्रियों द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। कान, नाक, नेत्र, त्वचा आदि के द्वारा अनुभव किये गये भाव ही वह मूलाधार हैं, जो आगे चलकर रसात्मक अनुभूतियों को जन्म देते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ जिस कच्चे माल (भावों, अनुभवों) का संग्रह करती हैं, उसे व्यवस्थित बनाती है भावना अथवा कल्पना। अतः पहले जब तक ज्ञानार्जन नहीं होगा, तब तक भाव उत्पन्न ही न होगा।

विशेष (1)—मार्मिक तथ्यों को ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पहले संचित किया जाता है तब कल्पना या भावना द्वारा उन्हें व्यवस्थित किया जाता है, कविता की अनुभूति-सत्ता की ऐसी व्याख्या की गयी है।

(2) विवेचनात्मक शैली और परिनिष्ठित भाषा का रूप द्रष्टव्य है।

गद्यावतरण (5)—कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है। भाव योग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व हृदय हो जाता है। उसकी अश्रु धारा में जगत् की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत् के आनन्द नृत्य का, उसके गर्जन-तर्जन में जगत् के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है। (1977-1961) (निबन्ध-विविधा, पृ० 89-90)

प्रसंग—प्रस्तुत गद्यांश 'कविता क्या है' निबन्ध के उपशीर्षक 'मनुष्यता की उच्चभूमि' से उद्धृत है। इसमें शुक्लजी ने कविता के द्वारा भावयोग की सबसे उच्च कक्षा तक पहुँचाने का कार्य करने के कारण कविता की महत्ता व्यक्त की है।

व्याख्या—कविता के द्वारा मानव का हृदय अपने स्वाभाविक स्वरूप में लाया जाता है। वैसे तो चारों ओर का वातावरण उसे तनावों के बीच, समस्याओं और संघर्षों के बीच रहने के कारण वह बहुत कुछ स्वाभाविक रूप में रहता है, किन्तु जब व्यक्ति कविता सुनाता है तो दुनिया के इन झझटों को भूलकर वह शुद्ध अनुभूतियों में रमने लगता है। मानव के हृदय को प्राकृतिक अवस्था (शुद्ध अनुभूति मात्र) में लाकर उसमें मनुष्यता का व्यापकता विकास करने का श्रेय कविता को ही है। जब सर्वोच्च कक्षा तक पहुँची हुई मानवता का विकास हो जाता है तब उसको अपने और विश्व के अन्य प्राणियों में कोई नहीं दिखाई देता। ऐसा विश्वात्मा बनाने का कार्य कविता द्वारा ही सम्पन्न होता है। तब उसका पृथक् अस्तित्व (एक व्यक्ति मात्र) नहीं रहता, उसके हृदय में जो भी भाव उठेंगे वे सब जगत् के प्राणियों के कल्याण उनके हासरुदन, उनकी रुचि अरुचि के साथ तदाकार हो जायेंगे। तब फिर प्रेम, क्रोध, करुणा, दया, उत्साह हास आदि सभी भावों में देशीय सीमा रेखाएँ ध्वस्त होकर सार्वदेशिकता एवं सार्वजनीनता आ जाती है।

विशेष—(1) **भावयोग (रसानुभूति)** ही मानव का व्यापक रूप में भाव-विकास करता है।

(2) मनुष्यता की उच्च कोटि तक कविता ही मनुष्य को पहुँचाती है यह कहकर शुक्लजी ने कविता का महत्व स्थापित किया है।

(3) विवेचनात्मक शैली और उच्चस्तरीय, परिष्कृत भाषा का प्रयोग द्रष्टव्य है।

गद्यावरण (6)—सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरोपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। यह वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीर कर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो

जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।

(निबन्ध-विविधा, पृ० 93)

प्रसंग—आचार्य शुक्ल के 'कविता क्या है' निबन्ध के अन्तर्गत आने वाले 'सौन्दर्य' उपशीर्षक से उद्धृत उक्त गद्यांश में सौन्दर्य की परिभाषा दी गई है।

व्याख्या—सौन्दर्य के विषय में पाश्चात्य देशों के दार्शनिकों ने कला के बहिरंग पक्ष और अन्तरंग पक्ष आदि के सौन्दर्य की चर्चा की है। शुक्लजी ने उसका खण्डन किया है और पाश्चात्य विवेचन को भाषा का जाल बताया है। उन्होंने वीरता का उदाहरण देकर अपने तर्क की पुष्टि की है कि जैसे वीर से वीरता कोई पृथक् पदार्थ नहीं होता उसी प्रकार भीतर-बाहर का सौन्दर्य कोई पृथक्-पृथक् वस्तुएँ नहीं है।

सौन्दर्य की परिभाषा देने के लिए उन्होंने पहले यह समझाया कि किसी वस्तु को देखकर हमारे मन में ऐसा प्रभाव पड़ता है कि हम अभिभूत होकर ठगे-से खड़े के खड़े रह जाते हैं। यहाँ तक हमें अपना होश तक नहीं रहता। ऐसी स्थिति में हमारा मन हृदय या चेतना जो भी कहे उसी वस्तु में खो जाता है, लीन हो जाता है। हृदय या मन की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति मानी जायगी। किसी वस्तु की ओर देखने से इतना मोहित और मुग्ध होना कि हम अपने को भूलकर उसी में डूब जाएँ, यही सौन्दर्य का मापदण्ड भी होगा कि जितने अधिक डूबे उतनी ही सुन्दर वस्तु वह मानी जानी चाहिए।

विशेष—(1) सौन्दर्य के विषय में भीतर का, बाहर का जैसे भेद करने वाले पाश्चात्य विचारकों के कला-विषयक विचारों का शुक्लजी ने खण्डन किया है।

(2) सौन्दर्य की परिभाषा एवं सौन्दर्य की भावना का मापदण्ड भी बताया है।

(3) दूर की कौड़ी, हवा हो जाना जैसे मुहावरे, गड़बड़ झाला, सिवा जैसे लोक बोली और उर्दू शब्दों का निस्संकोच प्रयोग होने से भाषा बड़ी सहज, सरल, सुबोध हो गयी है।

गद्यावतरण (7)—काव्य के सम्बन्ध में 'चमत्कार' अनूठापन आदि शब्द बहुत दिनों से लाए जाते हैं। चमत्कार मनोरंजन की सामग्री है, इसमें सन्देह नहीं। इसमें जो लोग मनोरंजन को ही काव्य-लक्ष्य समझते हैं, वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूँढ़ा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर जो लोग इससे ऊँचा और गम्भीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते। चमत्कार से हमारा अभिप्राय यहाँ से प्रस्तुत वस्तु के अद्भुतत्व या वैलक्षण्य से नहीं, जो अद्भुत रस के आलम्बन में होता है। चमत्कार से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है। जिसके अन्तर्गत वर्ण विन्यास की विशेषता (जैसे अनुप्रास में, शब्दों की क्रीड़ा) (जैसे श्लेष,

यमक आदि में) वाक्य-वक्रता या वचन-भंगी (जैसे काव्यार्थपति, परिसंरका विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य-सम्बन्ध की अनहोनी या इरारूढ़ कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा या अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं। (निबन्ध-विविधा, पृ० 95-96)

प्रसंग— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' निबन्ध के अन्तर्गत आने वाले 'चमत्कारवाद' शीर्षक से उद्धृत उपर्युक्त गद्यांश में काव्य में चमत्कार की विद्यमानता या आयोजन को अच्छा नहीं माना है।

व्याख्या—शुक्लजी की मान्यता है कि काव्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं होता अपितु कुछ और गम्भीर और उच्च संदेश देना कविता का उद्देश्य होता है। जबकि चमत्कार तो शुद्ध मनोरंजन करता है। चमत्कार को देखकर कुछ लोग थोड़ी देर के लिए वाह-वाह कर देते हैं, इतने क्षणिक प्रभाव को थोड़े ही कविता छोड़ती है, कविता का प्रभाव तो जीवन भर के लिए पड़ता है। अतः कविता तो बहुत गम्भीर कला है। शुद्ध मनोरंजन करने वाला चमत्कारी काव्य शुक्लजी की राय में काव्य ही नहीं माना जा सकता है।

इसके बाद शुक्लजी ने 'चमत्कार' शब्द की व्याख्या की है और यह बताया है कि एक चमत्कार या अद्भुतता तो अद्भुत रस में होती है, जिसके अन्तर्गत आश्चर्यजनक वस्तुएँ आलम्बन का कार्य करती हैं या जिनके बिना अद्भुत रस की सृष्टि ही नहीं हो सकती। यहाँ जिस चमत्कार की बात कही जा रही है वह इस अद्भुत रस का आलम्बन कहा जाने वाला अद्भुत नहीं अपितु, कथन की विचित्रता या उक्ति के चमत्कार के विषय में यह बात कही गयी है कि यह तो थोड़ी देर के लिए मनोरंजन करने का साधन भर है।

काव्य में चमत्कार का अर्थ समझाने के लिए उन्होंने चार बातों का उल्लेख किया है—

(1) वर्ण-विन्यास की विशेषता।

(2) शब्दों की क्रीड़ा।

(3) वाक्य की वक्रता या वचन भंगिमा।

(4) अप्रस्तुत वस्तुओं की अद्भुतता।

(5) प्रस्तुत के साथ अद्भुत अप्रस्तुतों के सादृश्य सम्बन्ध की इरारूढ़ कल्पना।

इन काव्यगत चमत्कारों को शुक्लजी ने अच्छा नहीं माना है। शब्दों में श्लेष, यमक द्वारा खिलवाड़ करना, अनुप्रास द्वारा एक ही वर्ण से प्रारम्भ होने वाले शब्दों की योजना कर देना, अर्थ निकालने में कुछ ज़ोर सिर हिला देने वाली विचित्रता कर देना, सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना करते समय अप्रस्तुतों का

साधर्म्य इतनी दूर की कौड़ी लाकर करना कि कविता उपहासस्पद बन जाए, आदि-आदि बातें उच्च कोटि के काव्य की परिधि में नहीं आती हैं।

विशेष—(1) अलंकार-सम्प्रदाय का विरोध करते हुए शुक्लजी ने काव्य के गम्भीर उद्देश्य की चर्चा भी प्रकारान्तर से कर दी है।

(2) आचार्य शुक्ल उक्तिवैचित्र्य को खिलवाड़ मानते हैं इसलिए काव्य की आलोचना का मापदण्ड भी यहाँ देखने को मिल जाता है कि कविता का उद्देश्य क्षणिक मनोरंजन करना कदापि नहीं है।

(3) छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा बात बड़े सरल ढंग से कहने के कारण भाषा प्रसाद गुण सम्पन्न हो गयी है।

(4) वैसे बड़ी संयत, प्रौढ़, परिष्कृत शब्दावली के प्रयोग द्वारा भाषा का कलेवर तैयार किया गया है।

(5) विवेचनात्मक शैली का प्रयोग करते हुए तार्किक विचार-प्रतिपादन की अच्छी पद्धति के दर्शन हो जाते हैं।

(6) अन्तिम वाक्य पर अंग्रेजी वाक्य-रचना का प्रभाव परिलक्षित होता है।

गद्यावतरण (8)—ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत विषय का सौन्दर्य आदि में) लीन न होकर एक बार ही कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं, सूक्ति है। बहुत से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझा करते हैं। पर इन दोनों का भेद सदा ध्यान में रहना चाहिए। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति। (निबन्ध-विविधा, पृ० 98)

प्रसंग—आचार्य शुक्ल ने 'कविता क्या है' निबन्ध के 'चमत्कारवाद' शीर्षक के अन्तर्गत आने वाले प्रस्तुत गद्यांश में काव्य और सूक्ति का अन्तर स्थापित करते हुए काव्य को सूक्ति से बहुत ऊँचा माना है।

व्याख्या—कोई ऐसी उक्ति या कथन, जिसे श्रोता सुने तो उसका हृदय तो उद्वेलित हो नहीं, बस थोड़ी के लिए कुतूहल अवश्य जग जाए कि कविता में कोई चमत्कार, कवि की चतुराई या बुद्धि का व्यायाम है, तो वह उक्ति काव्य नहीं कही जा सकती। ऐसे चमत्कारपूर्ण पद्य को सूक्ति कहा जा सकता है।

काव्य की पहचान बताते हुए शुक्लजी कहते हैं कि जिस उक्ति द्वारा निम्न दो कार्य किये जाएँ, वही काव्य हो सकती है या कही जा सकती है—

(1) श्रोता के हृदय में कोई भाव जगाये।

(2) श्रोता को प्रस्तुत विषय या तथ्य की मार्मिक भावना में डुबा दे।

ये दोनों बातें रसोद्रेक की क्षमता वाली कविता में ही होती हैं। स्पष्ट है कि भावोद्दीपन करने वाली उक्ति को ही शुक्लजी कविता मानते हैं। किसी चमत्कार-पूर्ण उक्ति को तो वे सूक्ति कहकर तुच्छ मानते हैं।

विशेष—(1) काव्य के गम्भीर उद्देश्य—इस निष्पत्ति को मानने वाले शुक्लजी ने कलावादी मान्यता का विरोध किया है और रसवादी दृष्टि का परिचय दिया है।

(2) अन्तिम दो वाक्यों में सहायक क्रिया को वाक्य के बीच में लाकर अद्भुत प्रवाहपूर्णता उत्पन्न कर दी है।

(3) काव्य और सूक्ति का तुलनात्मक विवेचन करने वाली विवेचना शैली द्रष्टव्य है। □

साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद

व्याख्यायें

गद्यावतरण (1)—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके, तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है। यह सिद्धान्त यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है, जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 111)

शब्दार्थ—आलम्बन=सहारा, आश्रय, किन्तु यहाँ इस सिद्धान्त के पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त है। रसोद्बोधन=रस का ऊपर उठना, उद्रेक होना। लोक-हृदय=सभी लोगों की सामान्य भावनाएँ। विचित्रताओं=भिन्न और विलक्षण अन्तर।

प्रसंग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा विरचित चिन्तामणि भाग-1 के निबन्ध 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' के प्रथम प्रघट्टक से उद्धृत प्रस्तुत गद्यावतरण में रस-दशा और साधारणीकरण की परिभाषा दी गयी है—

व्याख्या—आचार्य शुक्ल ने काव्य या नाटक में रसोद्बोधन की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए यह मत व्यक्त किया है कि जब कोई कवि किसी भाव का इस रूप में चित्रण करता है कि उसके हृदय का भाव सब का भाव हो जाये, तभी पाठकों के हृदय में वह कविता रसोद्रेक कर सकती है। कवि को वह भाव इस रूप में रखना पड़ता है कि वह कोटि-कोटि पाठकों को अपना भाव दीखने लगे। जब कवि अपने भावों को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि भिन्न-भिन्न रुचियाँ, प्रवृत्तियों, भिन्न भाषा; वेश धारण करते हुए, विभिन्न मत रखते हुए भी सभी पाठक उस भाव में लीन हो सकें, तभी वह प्रक्रिया 'साधारणीकरण' कहलाती है। इस सिद्धान्त के आधार पर आचार्य शुक्ल अच्छे कवि की कसौटी निर्धारित करते हैं। सच्चा कवि वही हो सकता है

जो जनता-जनार्दन के हृदय में उठने वाले भावों को पहचानता हो कि किन परिस्थितियों में कोटि-कोटि लोगों के हृदय में अमुक भाव ही उद्‌बुद्ध होगा। मानव-जाति के ऊपरी या बहिरंग वेशभूषा आदि विषयक भेद-भाव के भीतर हृदय में जो समान भाव उठ सकते हैं, उसका दर्शन करने वाला कवि ही रसोद्रेक करा सकता है। जब कवि अपनी कविता में ऐसे भाव व्यक्त करता है, जो सबके भाव हों, तो कोटि-कोटि पाठक उसमें रसमग्न हो सकेंगे। जब पाठकों का हृदय कविता के भाव में लीन हो जाता है, उसी स्थिति को आचार्य शुक्ल 'रस-दशा' मानते हैं।

विशेष—(1) प्रस्तुत गद्यांश में लोक-हृदय, रसोद्‌बोधन, साधारणीकरण और रस-दशा जैसे पारिभाषिक शब्दों द्वारा भाषा को उच्च स्तरीय, परिष्कृत और प्रांजल बनाया गया है।

(2) साधारणीकरण और रस-दशा की परिभाषा दी गयी है।

(3) विचारों की कसावट, रस-सिद्धान्त की सटीक व्याख्या और विवेचनात्मक शैली की आगमन पद्धति का प्रयोग द्रष्टव्य है।

(4) 'लोक-हृदय की पहचान' को कवि-कार्य की कसौटी बताकर शुक्लजी ने अपने लोकमंगलवादी दृष्टिकोण का भी परिचय दे दिया है।

गद्यावतरण (2)—"काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, 'जाति' नहीं। यह बात आधुनिक कला-समीक्षकों के क्षेत्र में पूर्णतया स्थिर हो चुकी है। अनेक व्यक्तियों के रूप-गुण आदि के विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत-सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करना, यह सब तर्क और विज्ञान का काम है—निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब (Images) या मूर्त्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (concept) लाना नहीं। 'बिम्ब' जब होगा, तब विशेष व्यक्ति का ही होगा, 'सामान्य' या 'जाति' का नहीं।"

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 112)

शब्दार्थ—विशेष=व्यक्ति विशेष, एक व्यक्ति। कला-समीक्षकों=साहित्य, कला आदि का विवेचन करने वाले विद्वान, आचार्य। निश्चयात्मिका बुद्धि=वह बुद्धि जो तर्क, विवेचन करके किसी निश्चय पर आती है। व्यवसाय=कार्य। मूर्त=स्थूल।

प्रसंग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' निबन्ध में पाश्चात्य विचारक क्रोचे के द्वारा व्यक्त विचारों को आधार मानकर बिम्ब विधान की परिस्थितियों का और काव्य में विधान की प्रक्रिया का विवेचन कर रहे हैं—

व्याख्या—आचार्य शुक्ल ने यहाँ यह विचार प्रतिपादित किया है कि काव्य में किसी एक व्यक्ति की आशा-आकांक्षा, भय-क्रोधादि का वर्णन किया जाता है,

किसी जाति की भावनाओं का नहीं। कारण यह है कि काव्य जब वर्ण्य-विषय के रूप में एक व्यक्ति को सामने लाता है, तब तो उसका बिम्ब पाठक या श्रोता के अन्तर्मन में उभरेगा और यदि कवि ने जाति का चित्रण किया तो पाठक के चित्त में कोई बिम्ब नहीं बन पाएगा।

आचार्य शुक्ल ने वैज्ञानिक विवेचन, तर्काधृत विश्लेषण करने का काम बुद्धि का बताया है। काव्य में बुद्धि का कोई काम नहीं होता। काव्य में पाठकों के समक्ष एक बिम्ब उभारा जाता है। अतः काव्य का मुख्य कार्य बौद्धिक विवेचन करना नहीं होता, अपितु कुछ स्थूल व्यक्ति, पात्रादि, दृश्यादि उभारने का ही होता है। और यह 'बिम्ब' एक व्यक्ति विशेष का ही हो सकता है क्योंकि किसी सामान्य या जाति का नाम लेने से पाठक के अन्तर्मन में कोई बिम्ब खड़ा हो ही नहीं सकता इसलिए काव्य में व्यक्ति-विशेष—या दृश्य-विशेष का ही चित्रण किया जाता है।

विशेष—(1) काव्य के आलोचना जगत् में स्थापित सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि काव्य में **'विशेष'** का चित्रण किया जाता है 'जाति' का नहीं।

(2) पाश्चात्य विचारक क्रोचे के विचारों को आचार्य शुक्ल ने बड़े कौशल के साथ प्रस्तुत किया है।

(3) पहला और अन्तिम दोनों वाक्य—प्रवाहपूर्ण हैं, जिनमें काव्यात्मक लय उत्पन्न की गयी है।

(4) निश्चयात्मिका बुद्धि और काव्य में कल्पना के आधार पर बिम्ब-निर्माण करने की तुलनात्मक पद्धति द्वारा विवेचनात्मक शैली का रूप उभारा गया है।

(5) कविता से वैचारिकता, बुद्धिवाद का दूर का भी सम्बन्ध न बताकर आचार्य शुक्ल ने काव्य के विषय में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है।

गद्यावतरण (3)—"इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि शुद्ध काव्य की उक्ति सामान्य कथन या सिद्धान्त के रूप में नहीं होती। कविता वस्तुओं और व्यापारों का बिम्बग्रहण कराने का प्रयत्न करती है, अर्थग्रहण मात्र से उसका काम नहीं चलता। बिम्बग्रहण जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, 'सामान्य' या 'जाति' का नहीं। जैसे यदि यह कहा जाय कि 'क्रोध में मनुष्य बावला हो जाता है' तो यह काव्य की उक्ति न होगी। काव्य की उक्ति तो किसी क्रुद्ध मनुष्य के उग्र वचनों और उन्मत्त चेष्टाओं को कल्पना में उपस्थित भर कर देगी। कल्पना में जो कुछ उपस्थित होगा, वह व्यक्ति या वस्तु-विशेष ही होगा। 'सामान्य' या 'जाति' की तो मूर्त भावना हो ही नहीं सकती।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 112-13)

शब्दार्थ—शुद्ध काव्य=जो काव्य ही हो, विचार-काव्य नहीं। बिम्बग्रहण=पाठकों द्वारा काव्य के वर्ण्य-विषय का अपने मन में चित्र खड़ा करना। व्यापारों=क्रियावलि, कार्य-व्यापार। उग्र वचन=क्रोध में कहे गये वचन। उन्मत्त=पागल।

प्रसंग—'साधारणीकरण' और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' नामक निबन्ध में आचार्य शुक्ल ने काव्य द्वारा बिम्ब विधान किये जाने की प्रक्रिया की व्याख्या की है—

व्याख्या—प्रस्तुत गद्यावतरण में काव्य के वर्ण्य-विषय का विवेचन किया गया है कि काव्य में किसी व्यक्ति-विशेष या घटना-विशेष का चित्रण किया जाता है। शुद्ध काव्य तो विचार, सिद्धान्त या सामान्य कथन का विवेचन या प्रस्तुतीकरण करता ही नहीं, क्योंकि काव्य और वैचारिक निबन्धादि में अन्तर तो होता ही है और होना भी चाहिए। काव्य में वर्ण्य उक्तियों का केवल अर्थ-बोध कराना कवि का तात्पर्य नहीं होता क्योंकि काव्य में केवल अर्थ-बोध करा देना पर्याप्त नहीं माना जाता। काव्य में वर्ण्य वस्तु या व्यापारों का बिम्ब उभारा जाता है, और बिम्ब जब भी बनेगा वह विशेष व्यक्ति या वस्तु या कार्य-व्यापार का ही बनेगा, किसी जाति या सामान्य कथन का बिम्ब तो बन ही नहीं सकता। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए शुक्लजी ने एक उदाहरण दिया है कि 'क्रोध में मनुष्य बावला हो जाता है' ऐसी सामान्य उक्ति का कोई काम नहीं, वहाँ तो किसी क्रुद्ध मनुष्य की आंगिक चेष्टाओं का वर्णन किया जायेगा, जिससे पाठक के मन में एक क्रुद्ध व्यक्ति का बिम्ब-निर्माण हो सके, क्योंकि 'सामान्य उक्ति' या 'जाति' वाचक शब्दों का कोई मूर्त रूप खड़ा ही नहीं हो सकता।

विशेष—(1) काव्य में बिम्बग्रहण की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

(2) सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादन और शुद्ध काव्य का अन्तर विश्लेषित किया गया है।

(3) प्रस्तुत गद्यांश में निगमन पद्धति द्वारा विवेचनात्मक शैली का रूप उभारा गया है।

(4) 'बिम्बग्रहण जब होगा··· ····जाति का नहीं' प्रवाहपूर्ण वाक्य है।

(5) शुद्ध काव्य, बिम्बग्रहण, अर्थग्रहण, सामान्य, जाति, विशेष आदि पारिभाषिक शब्दावली है।

गद्यावतरण (4)—" 'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है। जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 113)

शब्दार्थ—आश्रय=वह व्यक्ति-विशेष जो कविता में विद्यमान रहता है उसी के साथ पाठक का तादात्म्य हो जाने के कारण रसानुभूति होती है। आलम्बन=जिस पर 'आश्रय' का भाव अवलम्बित होता है, वह पात्र या वस्तु।

प्रसंग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रस्तुत गद्यांश में 'साधारणीकरण की प्रक्रिया' पर प्रकाश डाला है—

व्याख्या—काव्य में जिस व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष का वर्णन किया जाता है, उसका बिम्ब पाठक या श्रोताओं के चित्त में उदित होता है। वह व्यक्ति या वस्तु विशेष काव्य में आश्रय के भाव का विषय होता है, वैसे ही वह व्यक्ति या वस्तु-विशेष कोटि-कोटि पाठकों या सहृदय श्रोताओं के भाव का भी विषय हो जाता है। अर्थात् पाठक या श्रोताओं का तादात्म्य आश्रय के साथ हो जाता है और तभी वह आलम्बन को जिस भाव का विषय बनाता है, उसी भाव का विषय वह (आलम्बन) पाठकों या श्रोताओं का भी बन जाता है। तात्पर्य यह है कि साधारणीकरण दो प्रकार का होता है—

(1) आश्रय के साथ तादात्म्यमूलक साधारणीकरण।

(2) आलम्बन के साथ विषयमूलक साधारणीकरण।

इससे यह सिद्ध होता है कि काव्य में कवि या पात्र (आश्रय) जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति अपने भाव व्यक्त करते हैं, उस व्यक्ति (आलम्बन) का बिम्ब पाठक के मनो-मस्तिष्क में स्थूल रूप से विद्यमान रहता है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काव्य में यद्यपि बिम्ब विशेष का ही उभरता है परन्तु पाठकों या सहृदयों के हृदय में समान भाव उभरता है, यही साधारणीकरण है अर्थात् सभी पाठक या श्रोता सामान्य रूप से उसी भाव में निमग्न हो जाते हैं, जिस भाव में 'आश्रय' निमग्न होता है।

विशेष—(1) काव्य में 'विशेष' व्यक्ति का बिम्ब उभारा जाता है जो पाठक की कल्पना द्वारा पाठक या श्रोता के चित्त में उत्पन्न होता है।

(2) आश्रय, आलम्बन, व्यक्ति-विशेष, साधारणीकरण आदि सभी पारिभाषिक शब्द (रस-सिद्धान्त के पारिभाषिक शब्द) विवेचित किये गये हैं।

(3) विवेचनात्मक शैली का रूप द्रष्टव्य है।

(4) संश्लिष्ट, सगुम्फित वाक्य-शृंखला द्वारा शास्त्रीय, साहित्यिक भाषा का शृंगार किया गया है।

गद्यावतरण (5)—कल्पना में मूर्ति तो विशेष की ही होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी, जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगाए, जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।"

(निबन्ध-विविधा, पृ० 114)

शब्दार्थ—मूर्ति=साकार बिम्ब । प्रस्तुत भाव=जो भाव कविता में व्यजित हो सके । आलम्बनत्व धर्म=आलम्बन के प्रति जो भाव होता है, वही धर्म ।

प्रसंग—प्रस्तुत गद्यावतरण में आचार्य शुक्ल ने 'आलम्बनत्व धर्म' का साधारणीकरण बताया है और साधारणीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया को स्पष्ट किया है—

व्याख्या—आचार्य शुक्ल ने यह स्पष्टीकरण दिया है कि कविता पढ़ते या सुनते समय काव्य में वर्णित विषय-वस्तु या व्यक्ति-विशेष का बिम्ब उभरेगा तो वह बिम्ब विशेष व्यक्ति का ही होगा, किन्तु वह विशेष व्यक्ति इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि वर्ण्य या चित्रित भाव का आलम्बन बन सके । काव्य में आश्रय या कवि के द्वारा आलम्बन के प्रति जिस भाव की व्यंजना की जाय, उसी भाव की उत्पत्ति पाठक या श्रोता के हृदय में भी हो जाती है । यही कोटि-कोटि पाठकों के मन में उत्पन्न भाव को एक समान रूप में उभारना, साधारणीकरण की क्रिया का काम है । इस प्रकार आलम्बन के प्रति जो भाव आश्रय या कवि का होता है, वही भाव पाठक या श्रोताओं का भी हो, तो साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का ही हुआ । आलम्बन के प्रति भाव ही साधारणीकृत होता है । इस प्रकार आचार्य शुक्ल इस विरोधाभास का शमन करते हैं कि काव्य में व्यक्ति तो 'विशेष' रहता है परन्तु उससे सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा हो जाती है, जिसके कारण जनसाधारण (श्रोता या पाठकों) के चित्त में वही एक भाव उत्पन्न हो जाता है । हाँ, अपवादस्वरूप आचार्य शुक्ल यह तो स्वीकार करते हैं कि पाठकों के मन की दशा के अनुसार इस रसात्मक स्थिति में थोड़ा-बहुत मात्रा का भेद या कोटि का अन्तर तो हो सकता है अर्थात् कोई सहृदय अधिक डूब जाय, कोई कम ।

विशेष—(1) काव्य में विशेष व्यक्ति या व्यापार का बिम्ब उभारा जाता है, इस सत्य का उद्‌घाटन किया गया है ।

(2) साधारणीकरण की प्रक्रिया आलम्बन से सीधी जुड़ी हुई मानी गयी है ।

(3) 'इससे सिद्ध हुआ.....का होता है ।' सूत्रात्मक वाक्य है, जिसमें विचारों को कस-कसकर भरा गया है ।

(4) विवेचनात्मक शैली का प्रयोग करके सिद्धान्त-निरूपण, निष्कर्ष-प्रतिपादन किया गया है ।

गद्यावतरण (6)—"जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शीलद्रष्टा रूप में स्थित होता है, वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन में कोई न कोई भाव थोड़ा-बहुत अवश्य जगा रहता है, अन्तर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता, बल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन रहता है ।

इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है, जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है, उसके प्रति उसका कुछ न कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य होता है।"
—(निबन्ध-विविधा, पृ० 115)

शब्दार्थ—सन्निविष्ट = आये हुए, समाये हुए। शीलद्रष्टा = समाज के द्रोहियों के विरुद्ध ग्लानि करने और दुष्टात्माओं के प्रति रोष करने वाले। संघटित = निर्माण।

प्रसंग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रस की एक अवर कोटि का उल्लेख करते हैं कि शीलद्रष्टा के रूप में किसी दुष्ट पात्र के प्रति जो भाव उद्दीप्त होता है, वह उच्च कोटि का रसोद्रेक नहीं करता—

व्याख्या—जब किसी काव्य या नाटक में जो पात्र आते हैं, उनके प्रति पाठक या दर्शक शीलद्रष्टा बनकर व्यवहार करता है, वहाँ पाठक या दर्शक के चित्त में कोई न कोई भाव तो उमड़ता है परन्तु उस पात्र का आलम्बन जिस भाव का विषय होता है, वही भाव पाठक या श्रोता में नहीं उद्भूत होता, अपितु वह पात्र ही आलम्बन बन जाता है और उसके क्रोधादि भावों के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य न होकर, उसे आलम्बन मानकर क्रोध, घृणा आदि भावों को व्यंजित करता है। इस अवर कोटि में भी साधारणीकरण और तादात्म्य तो होता है, परन्तु यह तादात्म्य पात्र के साथ न होकर, कवि के साथ होता है। कवि का वह भाव यद्यपि काव्य या नाटक में व्यक्त नहीं हो रहा होता है तथापि कवि के अव्यक्त भाव के साथ भी होता है, क्योंकि जब कवि किसी वस्तु या पात्र की कल्पना करता है। उस समय उसके हृदय में कोई न कोई भाव तो रहता ही है। इस प्रकार पाठक या दर्शक ऐसी कविता पढ़ या सुनकर कवि-जैसी भावभूमि में विचरण करने लगता है। ऐसी स्थिति में साधारणीकरण भी होता है किन्तु तादात्म्य का आश्रय बदल जाता है अर्थात् आश्रय कोई पात्र या वस्तु न होकर कवि स्वयं हो जाता है।

विशेष—(1) प्रस्तुत गद्यांश में एक अन्य प्रकार की रस-निष्पति का उल्लेख किया गया है जिसमें कि पाठक या दर्शक का तादात्म्य किसी पात्र के साथ न होकर कवि के साथ होता है।

(2) विवेचनात्मक शैली का प्रयोग द्रष्टव्य है।

(3) कवि की कल्पना द्वारा भाव-संयोजन को महत्व प्रदान किया गया है।

(4) इस रस-दशा में आश्रय बदलने से स्थितियाँ बदल जाने का विवेचन किया गया है।

(5) भाषा सर्वत्र संस्कृतनिष्ठ, परिष्कृत एवं प्रांजल है।

गद्यावतरण (7)—"रस-सम्बन्ध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि शील-विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य-दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता सँभाले रहता है, द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है।"

शब्दार्थ—शील-विशेष=सामाजिक दायित्वबोध तथा लोकरक्षा के प्रति सजगता। परिज्ञान=अनुभूति। तादात्म्य दशा=तादात्म्य हो जाने की स्थिति। विसर्जन=त्याग, समापन। भावात्मक सत्ता=भाव-दशा, वर्तमान रसावस्था।

प्रसंग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त की व्याख्या करते-करते एक ऐसी अवर कोटि की रस-दशा का उल्लेख किया है, जिसमें आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं होता केवल शील-वैचित्र्य के कारण समाजोपकारक भाव मात्र उठकर रह जाते हैं—

व्याख्या—जब हमें सामाजिकता का भावबोध रहता है, तब हम समाज में किसी पर अत्याचार होते देखकर सात्विक क्रोध उस अत्याचारी के प्रति करने लगते हैं जो समाज को आतंकित करता है। ऐसी स्थिति में हम शील-विशेष के बोध के कारण जो भावानुभव करते हैं उस भाव-दशा में तथा जब किसी पात्र (आश्रय) के साथ तादात्म्य अनुभव करके प्राप्त होने वाली रस-दशा में रसानुभूति दो प्रकार की होती है। पहले प्रकार की भाव-दशा जो शील-वैचित्र्य से उत्पन्न होती है, वह रस-दशा (पूर्ण तादात्म्य की अवस्था) तक इसलिए नहीं पहुँच पाती है क्योंकि उसमें पाठक या श्रोता (सहृदय) अपनी सत्ता किसी पात्र में विलीन नहीं कर पाता, वह अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखता है अर्थात् उनका आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं हो पाता और आचार्य जिसे रस-दशा कहते हैं, जिसमें रस का पूर्ण परिपाक होता है, उसमें आश्रय के साथ तादात्म्य होने के कारण कुछ क्षणों के लिए पाठक अपनी सत्ता को विस्तृत करके आश्रय के भाव-जगत् में अपने को लीन कर देता है। इस प्रकार शील-वैचित्र्य से उत्पन्न भाव-दशा एक अवर कोटि की रस-दशा बतायी गयी है।

विशेष—(1) दो भिन्न कोटि की रसानुभूति का उल्लेख करके शील-वैचित्र्य से उत्पन्न अवर कोटि की भाव-दशा का विवेचन किया गया है।

(2) शास्त्रीय विचार-प्रतिपादन के लिए उपयुक्त विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग द्रष्टव्य है।

(3) आश्रय, तादात्म्य, रसानुभूति, भाव की अनुभूति, पृथक् सत्ता, आश्रय, पाठक या श्रोता आदि सभी पारिभाषिक शब्द रसशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली के परिचायक हैं।

गद्यावतरण (8)—"काव्य-क्षेत्र में किसी वाद का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सारसत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता न लिखकर 'वाद' लिखने लगते हैं, कला या काव्य के क्षेत्र में, 'लोक' और 'व्यक्ति' की उपर्युक्त धारणा कहाँ तक संगत है, इस पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। लोक के बीच जहाँ बहुत-सी भिन्नताएँ देखने में आती हैं, वहाँ कुछ अभिन्नताएँ भी पायी जाती हैं। एक मनुष्य की आकृति से दूसरे मनुष्य की आकृति नहीं मिलती; पर सब मनुष्यों की आकृतियों को एक साथ लें तो एक ऐसी सामान्य आकृति-भावना भी बँधती है, जिसके कारण हम सब को मनुष्य कहते हैं।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 120)

शब्दार्थ—सारसत्ता=मूल-आधार, ठोस बात का आधार। लोक=सामान्य जन। अभिन्नताएँ=भेद में अभेद, समानताएँ। आकृति भावना=आकृति के विषय में अनुभव।

प्रसंग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने योरोप में प्रचलित वैचित्र्यवाद के विषय में कटु आलोचना करते हुए काव्य में वादों को उचित नहीं ठहराया है। उन्होंने वैचित्र्यवाद के मूल आधार पर ही कुठाराघात किया है—

व्याख्या—योरोप में हर दस-पन्द्रह वर्ष बाद व्यक्तिवाद, वैचित्र्यवाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद आदि अनेक काव्य-वादों के प्रचलन की कटु आलोचना करते हुए आचार्य शुक्ल ने काव्य में वादों का इस आधार पर विरोध किया है कि वादगत मान्यताएँ कुछ समय में कवियों पर इतनी हावी हो जाती हैं कि कविता का मूल स्वरूप, मूल आधार (रसानुभूति कराना) ही समाप्त हो जाता है। काव्य में लोक की सामान्यता को स्थान देना चाहिए, व्यक्ति की विचित्रता को नहीं, ऐसी मान्यता व्यक्त करते हुए शुक्लजी उस सैद्धान्तिक विचार का प्रतिपादन करते हैं कि संसार में ऊपरी, सभ्यतागत भेद-भाव, भिन्नता होते हुए भी मानव की आन्तरिक रचना (भाव-जगत्) तो एक-सा ही है। आकृतियाँ भिन्न-भिन्न होते हुए भी मनुष्यों में इतना आकृतिगत साम्य होता ही है कि उन्हें आकृति देकर मानव की संज्ञा देनी पड़ती है। आकृति भावना में साम्य या ऐक्य होता है। सभी मनुष्यों के आँखें, नाक, कान एक समान रूप से, समान स्थिति में होने से मनुष्य की आकृतियों में भिन्नता होने के बावजूद समानता भी होती है। इसी समानता को लोक-सामान्य कहा जाता है। और इसी लोक-सामान्य की भाव-भूमि का काव्य से सीधा सम्बन्ध होता है। इसी आधार पर व्यक्ति-वैचित्र्यवाद का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि व्यक्ति केवल बाहर से देखने पर ही तो भिन्न लगते हैं।

विशेष—(1) काव्य में 'वाद' या आन्दोलनों का विरोध किया गया है और कविता को 'वाद-मुक्त' रखने का सुझाव दिया गया है।

(2) लोक-सामान्य की समानताएँ काव्य का विषय होती हैं।

(3) भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों की बहुलता द्वारा गुरु-गम्भीर रूप उभारा गया है।

(4) विवेचनात्मक शैली का रूप द्रष्टव्य है।

गद्यावतरण (9)—"काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में 'व्यक्ति' की ऐसी दीवार खड़ी हुई, विशेष के स्थान पर सामान्य या विचार-सिद्ध ज्ञान आ घुसने का इतना डर समाया कि कहीं-कहीं आलोचना भी काव्य-रचना के रूप में होने लगी। कला की कृति की परीक्षा के लिए विवेचन-पद्धति का त्याग-सा होने लगा। हिन्दी की मासिक पत्रिकाओं में समालोचना के नाम पर आजकल जो अद्भुत और रमणीय शब्द योजना-मात्र कभी-कभी देखने में आया करती है, वह इसी पाश्चात्य प्रवृत्ति का अनुकरण है। पर यह भी समझ रखना चाहिए कि यूरोप में साहित्य सम्बन्धी आलोचना की आयु बहुत थोड़ी होती है।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 122)

शब्दार्थ—विचार-सिद्ध=वह ज्ञान जो शुद्ध रूप से बौद्धिक विचार द्वारा प्राप्त किया जाय। विवेचन पद्धति=बौद्धिक विश्लेषण पर आधारित तार्किक रूप से विषय प्रतिपादन। अद्भुत=आश्चर्यजनक। पाश्चात्य प्रवृत्ति = चमत्कार, वैचित्र्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति।

प्रसंग—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' नामक निबन्ध के अन्तिम अंश में पाश्चात्य देशों के काव्यान्दोलनों, समीक्षा-पद्धति आदि की कटु आलोचना की है। वे व्यक्तिवादी विचारों के काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में घुस आने से चिन्तित दिखाई देते हैं। काव्य में विशेष अनुभूति का चित्रण करने के स्थान पर सामान्य, साधारण, और वह ज्ञान, वैचारिकता, बुद्धिवादी विवेचनात्मक ज्ञान का समावेश होने लगा। इस वैचारिकता का इतना आतंक छा गया कि अनेक आलोचक लोग काव्य में समीक्षा करने लगे कि कहीं गद्य लिखेंगे तो शुष्क वैचारिकता या बुद्धिवान हावी होता चला जायगा। ऐसी परिस्थिति में समीक्षा के क्षेत्र में एक दोष यह आता चला गया कि समीक्षा में विवेचन-पद्धति को लगभग छोड़ दिया गया, उनमें 'वाद' का आग्रह और शुष्क बौद्धिकता या वैचारिकता का आग्रह बढ़ता चला गया। यही प्रभाव आचार्य शुक्ल को अपनी समकालीन हिन्दी की पत्रिकाओं में भी देखने को मिला, इसे वे अच्छा नहीं मानते। वे इसी आधार पर हिन्दी के कवियों व समालोचकों को चेतावनी देते हैं कि यूरोप की आधी नकल करने का परिणाम यह होगा कि हिन्दी की कविता (वैचारिक कविता) समाप्त हो जायेगी, क्योंकि यह शुद्ध पाश्चात्य प्रभाव पर टिकी है और यूरोप में कोई काव्यान्दोलन 10-12 वर्ष से अधिक नहीं चला। एक के बाद दूसरे वाद आते चले गये।

विशेष—(1) वादयुक्त कविता की कटु आलोचना की गयी है।

(2) पाश्चात्य समीक्षा पद्धति के हिन्दी की पत्रिकाओं पर पड़ने वाले प्रभाव की कटु निन्दा की गयी है।

(3) आचार्य शुक्ल की समीक्षा दृष्टि का परिचय मिलता है कि वे 'वाद-मुक्त' कविता के हिमायती हैं। □

बाबू गुलाबराय

प्रश्न 1—बाबू गुलाबराय के निबन्धों की विशेषताएँ बताते हुए हिन्दी निबन्ध-साहित्य में उनका स्थान निर्धारित कीजिए।

अथवा

बाबू गुलाबराय की भाषा-शैली विषयक विशेषताएँ बताइये और उनके निबन्धों की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिये।

अथवा

बाबू गुलाबराय के जीवन एवं कृतित्व का परिचय देते हुए उनके गद्य-शिल्प का विवेचन कीजिए।

उत्तर—बाबू गुलाबराय का जन्म 16 जनवरी, 1888 ई० को इटावा में छिपैटी मुहल्ले के अन्तर्गत श्री भवानीप्रसादजी के घर में हुआ। उन्होंने हिन्दू-उर्दू में मिडिल पास किया तहसीली स्कूल में और हाईस्कूल मैनपुरी के मिशन स्कूल से 1905 ई० में उत्तीर्ण किया। आगरा कालिज से 1911 ई० में बी. ए. किया, 1913 में एम. ए. (फिलॉसफी) और एल-एल. बी. 1917 ई० में किया। 1957 में आपको आगरा विश्वविद्यालय द्वारा डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की गयी। 1913 से 1932 ई० तक छतरपुर में महाराजा विश्वनाथजू देव के दीवान रहे और 1933-34 में अवागढ़ राज्य के थाना-अध्यक्ष रहे। 1936 से 1955 तक आगरा कालिज के हिन्दी विभाग में अवैतनिक अध्यापक रहे। 13 अप्रैल, 1963 को आपका निधन हुआ।

आपकी रचनाओं में 1912 में पहला लेख प्रकाशित हुआ। निबन्ध-संग्रह के रूप में 1918 में फिर निराश क्यों? 1926 में मैत्री धर्म, 1928 में ठलुआ क्लब, 1934 में प्रबन्ध-प्रभाकर, 1937 में विज्ञान-विनोद, 1948 में जीवन-पथ, 1950 में आत्म-निर्माण, 1953 में मन की बात, 1955 में मेरे निबन्ध, 1956 में कुछ उथले, कुछ गहरे; 1957 में मेरी असफलताएँ एवं अध्ययन और आस्वाद, 1962 में जीवन-रश्मियाँ प्रकाशित हुए हैं।

बाबू गुलाबराय ने पाँच प्रकार के निबन्धों की रचनाएँ कीं—

(1) वैयक्तिक निबन्ध—जैसे, आत्मविश्लेषण, मेरा मकान पानी की बाढ़ में, ठोंक-पीटकर लेखकराज आदि।

(2) ललित निबन्ध—यथा, अक्कल बड़ी कि भैंस, मेरे नापिताचार्य, फैशन का मनोविज्ञान, मधुमेही लेखक की आत्मकथा आदि।

(3) सामाजिक निबन्ध—जैसे, हिन्दी पर साम्राज्यवाद का आरोप निराधार, राष्ट्रीयता और उसके बाधक, भारत की राष्ट्रीय एकता तथा संघर्ष आदि।

(4) समीक्षात्मक निबन्ध—यथा, सौन्दर्यानुभूति, आलोचना सम्बन्धी मेरी मान्यताएँ, साहित्य और हमारी मानसिक प्रवृत्तियाँ, रस और मनोविज्ञान आदि।

(5) मनोवैज्ञानिक निबन्ध—यथा, कानों सुनी, हम हँसते क्यों हैं? तथा अँधेरी कोठरी आदि।

बाबू गुलाबराय के निबन्ध-साहित्य का परिचय देते हुए डॉ० रामचन्द्र तिवारी का निम्नमत उद्धृत किया जाता है—

"ये निबन्ध वस्तुनिष्ठ और आत्मव्यंजक दोनों ही प्रकार के हैं। बाबूसाहब के आलोचनात्मक निबन्ध प्रायः वस्तुनिष्ठ हैं। ××× विषय-वैविध्य की दृष्टि से बाबूसाहब का निबन्ध-साहित्य सर्वाधिक समृद्ध कहा जायगा।"

—(हिन्दी का गद्य-साहित्य, पृ० 348)

डॉ० बालकृष्णराव ने हिन्दी-निबन्ध के क्षेत्र में उनके स्थान का संकेत निम्न वाक्यों में दिया है—

"बाबू गुलाबराय द्विवेदी युग के निबन्धकारों की पंक्ति में ही आते हैं। ××× आधुनिक युग में जो निबन्ध-लेखक विख्यात हुए हैं, उनमें अधिकांश का प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध बाबू गुलाबरायजी से था ही। ××× चाहे जैसा भी हो, हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पश्चात् बाबू गुलाबराय ऐसे निबन्धकार हैं, जिनकी रचनाएँ आधुनिक युग में और अब भी प्रचार में हैं। शैली और विषय-वैविध्य के कारण और मात्रा के आधिक्य के कारण भी गुलाबराय के निबन्ध अन्यान्य विषयों पर लिखित और संगृहीत साहित्य-सामग्री के अन्तर्गत आज भी सुलभतया पढ़ने को मिल जाते हैं और उपयोगी सिद्ध होते हैं। गुलाबराय के निबन्धों की संख्या लगभग चार सौ है, कदाचित इस संख्या की दृष्टि से ये अन्य सभी निबन्धकारों में अग्र स्थान रखते हैं।"

—(गुलाब-वल्लरी, पृ० 9-10 भूमिका भाग से)

डॉ० जयचन्द्र राय ने भी बाबू गुलाबराय का हिन्दी निबन्ध-साहित्य में स्थान निर्धारित करते हुए निम्न विचार व्यक्त किये हैं—

"बाबू गुलाबराय का निबन्ध-साहित्य इस युग में इसलिए उल्लेखनीय है कि वह मुख्यतः आत्मपरक और व्यंग्यमूलक होने के साथ-साथ लेखक के पुष्कल पाण्डित्य और सुचिंतित जीवन-दर्शन का दर्पण भी है। दर्शन, आचारशास्त्र और मनोविज्ञान उनके विधिवत् आधीन विषय थे, सुधार युग के आदर्शों से उनकी जीवन-दृष्टि अनुशासित थी, अपेक्षाकृत अधिक शान्त एवं संयत व्यक्तित्व ही उनका आन्तरिक मूलक था, फिर भी वे शिष्ट एवं परिष्कृत विनोद तथा मर्यादित हास-परिहास से सम्पन्न प्रकरणों का समायोजन करने में पूर्ण पटु थे, निबन्धों की भाषा को भी वे तद्वत् परिचालित कर सकते थे।"

—(हिन्दी वाङ्मय : बीसवीं शती, पृ० 335)

इस प्रकार बाबू गुलाबराय के निबन्धों में स्पष्ट विवेचन आत्म-व्यंग्य का पुट, व्यंग्य-विनोद की चहल-पहल देखने को मिलती है। वे बड़ी सरल-सरस शैली में अन्तर्बाह्य लालित्य की सृष्टि करते चले जाते हैं। उनमें तत्व चिन्तन भी उच्च कोटि का मिलता है।

भाषा-शैली—बाबू गुलाबराय की भाषा-शैली की विशेषताओं में सबसे उल्लेखनीय बात यही है कि विषय के अनुरूप वे भाषा-शैली का रूप भी बदलते रहे हैं। उनके भाषा के विषय में समन्वयवादी दृष्टिकोण के विषय में डॉ० रामचन्द्र तिवारी की निम्न टिप्पणी द्रष्टव्य है—

"बाबूसाहब की भाषा विषय-सापेक्ष है। सैद्धान्तिक ग्रन्थों में वह संयत, गम्भीर तथा तत्समप्रधान है। व्यावहारिक आलोचनाओं में वह आलोच्य विषय के अनुरूप सरस-सरल, गम्भीर, भावप्रबल और प्रवाहमयी हो गयी है। आत्मव्यजक निबन्धों में उसका रूप बाबूसाहब की सहज विनोदी प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल है। उन्हें किसी विशेष ढर्रे की भाषा के प्रति आग्रह नहीं है। सरल सुगम व्यावहारिक भाषा, तत्समप्रधान आलंकारिक काव्यमयी भाषा, तर्कयुक्त बौद्धिक एवं वैचारिक विश्लेषणप्रधान गम्भीर भाषा सभी का प्रयोग उन्होंने यथास्थान अवसर के अनुकूल किया है। × × × ऐसा लगता है कि भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया है।" —(हिन्दी का गद्य-साहित्य, पृ० 349)

उनकी भाषा में लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग द्वारा सहजता और स्वाभाविकता जैसा विरल गुण समायोजित कर दिया गया है। उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का भी निःसंकोच प्रयोग करते उन्हें देख सकते हैं। व्यंजना आपकी भाषा की मारक शक्ति का प्रमाण है। यही कारण है कि उनके व्यंग्य बड़े सशक्त और तीव्र प्रभाव छोड़ते हैं। डॉ० हरिमोहन ने आपकी निबन्ध-शैलियों का परिचय देते हुए **प्रसाद शैली, व्यंग्य शैली, और विवेचन शैलियों** की प्रमुख रूप से चर्चा की है। डॉ० हरिमोहन के ही शब्दों में बाबू गुलाबराय की उपलब्धियों को निम्न वाक्यों में रेखांकित किया गया है—

"बाबू गुलाबराय सुबोध, सरस निबन्धकार माने जाते हैं। आपकी शैली में प्रसाद गुण का आधिक्य है। अधिकांश निबन्ध स्वानुभूत तथ्यों से ओत-प्रोत होने से इनकी शैली में प्रथम पुरुष का प्रयोग मिलता है। वैचारिक निबन्ध विचारों से बोझिल नहीं हो पाये हैं, इसका कारण सम्भवतः यही है कि बाबूजी व्यंग्य और विनोद का पुट अपने हर निबन्ध में दे देते हैं। उनका प्रत्येक निबन्ध कथात्मकता लिए हुए होता है।" —(प्रतिनिधि हिन्दी निबन्धकार, पृ० 89)

बाबू गुलाबराय ने स्वयं चार प्रकार की शैली वाले निबन्धों की चर्चा की है—

(1) वर्णनात्मक—यथा, कालिज जीवन के दस गुरु निबन्ध में।

(2) विवरणात्मक—यथा, शैल-शिखर पर निबन्ध में।
(3) विचारात्मक—यथा, अध्ययन और आस्वाद में।
(4) भावात्मक—शुद्ध भावात्मक शैली में बहुत कम लिखा है, वैसे भावात्मकता का पुट प्रायः हर निबन्ध में मिल जायगा।

अन्त में, बाबू गुलाबराय के लेखन के विषय में डॉ० नगेन्द्र का निम्न मत उद्धृत करके उनकी महत्ता का प्रतिपादन किया जाता है—

"हिन्दी गद्य के उन्नायकों में डॉक्टर गुलाबराय का महत्वपूर्ण स्थान है। काव्यशास्त्र, व्यावहारिक आलोचना, ललित निबन्ध, गम्भीर सरस निबन्ध-साहित्य आदि के विकास में सम्यक् योगदान देकर, द्विवेदी युग से लेकर नयी कविता और नयी आलोचना के इस अत्याधुनिक युग तक की विकासशील चेतना को आत्मसात् कर मन्थर किन्तु स्थिर गति से आगे बढ़ता हुआ, यह वयोवृद्ध लेखक (अब स्वर्गीय) विशेष ऐतिहासिक गौरव का अधिकारी है।"

—(हिन्दी साहित्य-कोश, भाग 2, पृ० 132)

□

अँधेरी कोठरी

व्याख्यायें

गद्यावतरण (1)—"प्रायः लक्ष्मी के कृपापात्र सम्पन्न लोगों के तथा अपेक्षाकृत कम भाग्यशाली किन्तु खाते-पीते भद्र पुरुषों के घेरों में एक बैठक या अलंकृत कक्ष होता है, जिसको वे सजा-सजाया और परिष्कृत रखते हैं, विशेषकर जब कोई सम्मान्य व्यक्ति प्रतीक्षित हो। उस स्थान की मेज-कुर्सियाँ, सोफा-सेट, द्वार और गवाक्ष-पट, पुष्प-स्तवक, पित्तल-पुत्तलिकाएँ, चित्रादि अलंकार सब झाड़-पोंछकर अनिन्द्य रूप से स्वच्छ और चमकते-दमकते रखे जाते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर एक सुव्यवस्थित रूप में सज्जित होती है। वहाँ पर कोई भी अनचाही और अनावश्यक वस्तु नहीं रहने पाती, कभी-कभी तो उसमें गृह-स्वामी के कुलदीपक, आँखों के तारे, प्यारे, लाड़ले लालों का भी प्रवेश वर्जित कर दिया जाता है।"

शब्दार्थ—सम्पन्न=वैभवपूर्ण, समृद्धिशाली। खाते-पीते=धनधान्यपूर्ण, अच्छी तरह जीवन-यापन करने वाले। भद्र=सम्पन्न, उच्च कुलीन। अलंकृत कक्ष=ड्राइंग रूम। परिष्कृत=शुद्ध, स्वच्छ। गवाक्ष=खिड़कियाँ। पुष्प-स्तवक=गुलदस्ते। पित्तल-पुत्तलिकाएँ=पीतल की मूर्तियाँ। अलंकार=आभूषणादि। अनिन्द्य=जिसकी निन्दा न की जा सके।

प्रसंग—बाबू गुलाबराय 'अँधेरी कोठरी' नामक मनोवैज्ञानिक निबन्ध का प्रारम्भ करते समय अपने मुख्य प्रतिपाद्य की पृष्ठभूमि निर्माण करने के लिए एक भव्य प्रासाद के अलंकृत कक्ष के विषय में व्यंग्यपूर्ण चुटकी लेते हैं—

व्याख्या—बाबू गुलाबराय बड़े लोगों, धनपति कुबेरों के भव्य भवनों में

तथा अपेक्षाकृत कम सम्पन्न किन्तु सब प्रकार के भोग-विलास के उपकरणों से सम्पन्न परिवारों के भवनों में एक अलकृत कक्ष (ड्राइंग रूम) के होने की बात कहते हैं। उस अलंकृत कक्ष के विषय में लेखक यह विवरण देता है कि इस अलंकृत कक्ष को स्वच्छ रखा जाता है, उसमें शोभावर्द्धक उपकरण सजाये जाते हैं और जब कोई बहुत बड़ा आदमी आने को होता है, तब उसे जर्क-बर्क से चमचमा दिया जाता है। उसके दरवाजों, खिड़कियों पर विशेष पर्दे डाले जाते हैं, गुलदस्ते सजाये जाते हैं, पीतल की चमचमाती मूर्तियाँ, चित्र तथा अन्य शोभावर्द्धक अलंकरण सजाये जाते हैं। प्रत्येक उपकरण को स्वच्छ किया जाता है और सुव्यवस्थित रूप में रखा जाता है। अनावश्यक, अवांछित कोई भी वस्तु हो, तो उसे उस कक्ष से हटा दिया जाता है। लेखक ऐसे बड़े लोगों पर व्यंग्य करता है कि ये लोग अपने ड्राइंग रूम के पीछे अपने प्रिय छोटे बच्चों, पुत्र-पुत्रियों (जिन्हें कुल-दीपक कहकर पुकारते हैं) की भी उपेक्षा कर देते हैं और इस डर से कि कहीं अलंकृत कक्ष अस्तव्यस्त न हो जाय, वे अपने लाड़ले पुत्रों तक को उस अलंकृत कक्ष में घुसने तक नहीं देते।

विशेष--(1) तथाकथित उच्च वर्ग के आभिजात्य का दम्भ पालने वाले सुरुचिसम्पन्न लोगों के भव्य भावनों में ड्राइंग रूम की सभ्यता पर व्यंग्य किया है।

(2) संस्कृत के समस्त-पदों, शुद्ध तत्सम शब्द बहुल भाषा का उच्च स्तरीय प्रयोग किया है।

(3) आँखों के तारे, प्यारे में तुकदारता तथा 'लाड़ले लालों' में सानुप्रासिकता का सौन्दर्य द्रष्टव्य है।

गद्यावतरण (2)—इन नयनाभिराम चित्तोत्फुल्लकारी अगरु-धूम से सुवासित शोभन स्थलों के अतिरिक्त घरों में भी कुछ ऐसे स्थान होते हैं, जिनको सार्वजनिक दृष्टि से बचाया जाता है, और जहाँ 'एसां क्वापि गतिर्नास्ति तेषां वाराणसी गतिः' की भाँति 'स्थानभ्रष्टाः केशाः दन्ताः नखाः नराः' के से अशोभन एवं तात्कालिक उपयोग में न आने वाले पदार्थ सुरक्षित रहते हैं। पिछले बरंडे, अँधेरी कोठरियाँ जहाँ रवि क्या, कवि की भी गति कठिनाई से हो पाती है, और तहखाने जैसे शरण-स्थलों में रिक्त पार्सल-पेटियाँ, खाली बोतलें, टूटे टीन, जीर्ण-शीर्ण पत्र-पत्रिकाएँ, अपने जीर्णोद्धार के लिए बढ़ई देवता की आस लगाये बैठी रहने वाली; लूली-लँगड़ी, बैठक-तकिया से विमुक्त शोभाविहीन ढचर-पचर कुर्सियाँ, आगामी ग्रीष्म ऋतु की प्रतीक्षा में व्यग्र और व्याकुल खस की टट्टियाँ, और विद्यारम्भ, विवाहादि, शुभ अवसरों पर अपने जीवन की सार्थकता प्रमाणित करने वाले जंग लगे हरिताभ गंगासागर, शाक के चौकड़े और रायतेदान, ये सब भानमती के कुनबे के अमान्य और लांछित सदस्य धूल के विशाल आवरण में लिपटे हुए सुख निद्रा में शयन करते रहते हैं।"

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 124-25)

शब्दार्थ—नयनाभिराम=नयनों को आकर्षक लगने वाले, सुन्दर। चित्तोत्फुल्लकारी=चित्त को प्रसन्न करने वाले। अगरु-धूम=अगरबत्ती के धुएँ से। अशोभन=भोंड़े, कुरूप, असुन्दर। शरण-स्थलों=वे स्थान जहाँ चुपके से शरण ली जाए, छिपा जा सके। बैठक-तकिया=कुर्सी का तल और पृष्ठ प्रदेश। हरिताभ=हरा रंग (काई लगकर जो हो गये हैं।) चौकड़े=चार बड़ी कटोरियाँ एक हत्थे में जुड़ी हुई, जो शादी-विवाहों में चार-प्रकार के शाक एक साथ परोसने के काम आते हैं। लांच्छित=उपेक्षा, लांछन दिये गये। सुख-निद्रा=औंघते-सोते, चैन के साथ पड़े रहते।

प्रसंग—बाबू गुलाबराय कृत 'अँधेरी कोठरी' निबन्ध के प्रारम्भ में लेखक मुख्य बात कहने के पहले भूमिका बनाने के उद्देश्य से बड़े लोगों के मकानों में बने ड्राइंग रूम की शोभा का वर्णन कर चुका है, उसके बाद वह मकानों में बने ऐसे स्थानों का उल्लेख करता है, जहाँ घर की अनुपयोगी वस्तुएँ, कूड़ा-कबाड़ा डाल दिया जाता है—

व्याख्या—इन सुन्दर अलंकृत कक्षों के अतिरिक्त घरों में ऐसे स्थान भी होते हैं, जिनके सौन्दर्य, सजावट की तो गृहस्वामियों को चिन्ता होती ही नहीं है, अपितु जहाँ अनेक अनुपयोगी वस्तुएँ, उस तरह के उपकरण, जिन्हें कहीं अन्यत्र गति नहीं मिलती, डाल दिये जाते हैं। कुरूप, असुन्दर लगने वाली वस्तुएँ ऐसे अँधेरे कोठरों (तहखानों) में डाल दी जाती हैं, जहाँ सूर्य भगवान की तो चलती क्या है, कवियों की दृष्टि भी नहीं पहुँच पाती। ऐसे उपेक्षित स्थानों में मकानों के पीछे की ओर बने बराण्डे भी उपयोग में लाये जाते हैं, जहाँ पार्सलों की पुरानी टूटी हुई पेटियाँ, खाली बोतलें, टूटे हुए टीन, फटी-पुरानी पत्र-पत्रिकाएँ कूड़े के ढेर की तरह डाल दी जाती हैं। ऐसे स्थानों में घर की टूटी हुई कुर्सियाँ डाल दी जाती हैं जिनकी पीठ टूटी होती है अथवा तल स्थान टूट जाता है, वे बिचारी बढ़ई की प्रतीक्षा करती है कि कब वह महान् देवता आएगा और उनकी मरम्मत करेगा, ऐसी असुन्दर (जिसकी टाँगे हिल गयी हों,) कुर्सियाँ पड़ी रहती हैं। आगामी ग्रीष्म ऋतु में काम आने वाली खस की टट्टियाँ भी गर्मियों की प्रतीक्षा में व्यग्र पड़ी रहती हैं कि कब ग्रीष्म ऋतु आये और कब उनकी सुधि ली जाय। ऐसी अँधेरी कोठरियों में ऐसे बड़े-बड़े बर्तन भी डाल दिये जाते हैं जो कभी विवाह आदि के अवसरों पर दावतों के काम आते हैं। ऐसे बर्तनों में पानी परोसने वाले जंग लगे, काई से हरे पड़ गये ताँबे के गंगासागर, मैले पड़ जाने वाले शाक परोसने वाले चौकड़े, रायतेदान ऐसे पड़े रहते हैं जैसे भानुमती का कुनबा हो, सब अस्त-व्यस्त बिखरा पड़ा हो। ऐसे ये उपेक्षित और लांच्छित कर दिये गये उपकरण धूल, गर्द में दबे-ढँके मानो सुख एवं चैन की नींद सोते रहते हैं।

इस प्रकार लेखक ने मकानों के उपेक्षित स्थानों का बड़ा ही यथार्थ चित्र अंकित किया है कि कैसे अनुपयोगी, असुन्दर, टूटी-फूटी वस्तुएँ घरों में बाहर से आने वाले लोगों की निगाहों से बचाकर डाल दी जाती हैं।

विशेष—(1) नयनाभिराम, चित्तोत्फुल्लकारी, अगरु-धूम सुवासित, शोभन-स्थल आदि संस्कृत के लम्बे-लम्बे समासों द्वारा तत्सम शब्दों का प्रयोग करके बाबू गुलाबराय ने उच्च स्तरीय गद्य-भाषा का स्वरूप दिखाया है।

(2) दो स्थानों पर संस्कृत के श्लोकांशों को वाक्यों में उद्धृत करके उद्धरणात्मक शैली का प्रयोग किया गया है।

(3) 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि' जैसी लोकोक्तिको भी उद्धरणात्मक वाक्य रूप में प्रयोग किया गया है।

(4) कुर्सियों, खस की टट्टियों का मानवीकरण करके लेखक ने आलंकारिक शैली और व्यंग्यात्मक शैलियों का मिला-जुला रूप प्रयुक्त किया है।

(5) खाते-पीते, जैसे मुहावरेदार युग्मात्मक शब्द, ढचर-पचर जैसे ध्वन्यात्मक शब्द लोक बोली के स्तर की सहज, सरल भाषा का रूप प्रस्तुत करते हैं।

(6) अँधेरी कोठरी, तहखानों, बराण्डों में पड़े सामान का चित्र प्रस्तुत करने वाली भाषा की बिम्ब विधायी शक्ति का परिचय मिलता है।

गद्यावतरण (3)—"जो सम्बन्ध अलंकृत कक्ष और अँधेरी कोठरी या तहखाने का है, प्रायः वही सम्बन्ध हमारे चेतन और अवचेतन मन का है। चेतन मन का रंगमंच विस्तृत नहीं होता है। उस पर हमारे भाव परदे के पीछे से सजा-सजाकर बारी-बारी से ही प्रवेश प्राप्त कर सकते हैं, जो बातें हमारे चेतन मन के मंच पर आती हैं, वे प्रायः नाटकीय पात्रों की भाँति साफ-सुथरी, भव्य और दिव्य आभा धारण करके आती हैं। मंच पर वेतन-भोगी नट भी चक्रवर्ती नरेश-सा दिखाई देता है।"
—(निबन्ध-विविधा, पृ० 125)

शब्दार्थ—अलंकृत कक्ष=ड्राइंग रूम, बैठक के रूप में प्रयोग किया जाने वाला कमरा। अवचेतन मन=हमारी चेतना से परे का मन। कालों का रंगमंच=नाटक खेले जाने वाला मंच। भव्य=सुन्दर। दिव्य=अनुपम, सुन्दर। आभा=प्रकाश-दीप्ति। वेतनभोगी=नौकरी पर रहने वाला, वेतन पर निर्भर हो जीवन व्यतीत करने वाला अर्थात् नौकर या सेवक।

प्रसंग—बाबू गुलाबराय 'अँधेरी कोठरी' निबन्ध में पहले अलंकृत कक्ष समझाते है और बाद में एक अँधेरी कोठरी की स्थिति स्पष्ट करते हैं कि उसमें कूड़ा-कटकर डाल दिया जाता है। उसके बाद अपने मूल मन्तव्य पर आते हैं कि चेतन मन और अवचेतन मन की प्रक्रिया किस प्रकार चलती है।

व्याख्या—बाबूजी का समझाने का तरीका बहुत विलक्षण है, वे अवचेतन मन में बैठी रहने वाली दमित वासनाओं को कभी-कभी चेतना-लोक में आने, घुस-पैठ करने के मनोवैज्ञानिक तथ्य को स्पष्ट करने के लिए रंगमंच का रूपक खड़ा करते हैं कि जैसे छोटा-सा रंगमंच हो तो पर्दे के पीछे से एक-एक पात्र ही बारी-बारी से सज-सजकर आ सकता है, उसी प्रकार चेतन लोक में अवचेतन मन में बैठी एक समय में एक ही दमित वासनाएँ प्रवेश करती है। कभी स्वप्न में, कभी भूल-चूक कभी नशे में ये दमित वासनाएँ चेतन-लोक रूपी रंगमंच पर आती हैं। चेतन-लोक में आते समय ये दमित वासनाएँ अपने नग्न रूप में नहीं आती, कुछ न कुछ परिवर्तन करके, परिवर्तित रूप में ही आती हैं। स्वप्न के समय कभी-कभी दीनता की, हीनता की मनोग्रन्थि का प्राकट्य इस रूप में होता है कि व्यक्ति सम्राट् बनकर भी सम्पन्न वैभव-युक्त जीवन व्यतीत करने के रूप में उभरता है। अर्थात् दैन्य की मनोग्रन्थि दीनता के रूप में नहीं, अपितु, वैभव-सम्पनता के रूप में साकार होती है।

विशेष—(1) अलंकृत कक्ष का उपमान चेतन मन के लिए और अँधेरी कोठरी का उपमान अवचेतन मन के लिए लाकर प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

(2) रंगमंच का अप्रस्तुत प्रयुक्त करके लेखक ने आलंकारिक शैली का प्रयोग किया है।

(3) तहखाने, सजाकर, साफ-सुथरी जैसे उर्दू के जनप्रचलित शब्द भाषा को सरल, सुबोध बनाने में सफल हैं।

(4) विवेचनात्मक शैली द्वारा अपने विचारों का लेखक ने कुशलता के साथ प्रतिपादन किया है।

गद्यावतरण (4)—"हमारे यहाँ भी उपनिषदों में तीन प्रकार की एषणाएँ मानी हैं: पुत्र-एषणा, वित्त-एषणा और लोक-एषणा। पुत्र-एषणा कामवासना का प्रतिरूप है। वित्त-एषणा में मार्क्स की बतलाई हुई भौतिक आवश्यकताएँ आ जाती हैं और लोक-एषणा ख्याति की इच्छा को कहते हैं। यह एक प्रकार से प्रभुत्व-कामना का पर्याय है। किन्तु हमारे यहाँ ये अन्तिम प्रेरक शक्तियाँ नहीं मानी गयी हैं। सच्चा ब्राह्मण इनसे ऊपर उठने का प्रयत्न करता रहता है।"

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 129-30)

शब्दार्थ—एषणा=इच्छा। प्रतिरूप=बदला हुआ रूप या प्रतिबिम्ब। प्रभुत्व-कामना=अपने को महत्वपूर्ण बनाने की इच्छा। प्रेरक=प्रेरणा प्रदान करने वाली।

प्रसंग—बाबू गुलाबराय ने 'अँधेरी कोठरी' नामक निबन्ध में मनोविज्ञान के दो महान् दिग्गजों-फ्रायड तथा एडलर के हवाले से काम और प्रभुत्व-कामना नामक

दो मूल मनोवृत्तियों की चर्चा की है। और उसके प्रसंग में उन्हें भारतीय दर्शन में प्रतिपादित एषणाओं का भी स्मरण हो गया है—

व्याख्या—बाबू गुलाबराय ने पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक एडलर के द्वारा प्रतिपादित प्रभुत्व-कामना की मूल-मनोवृत्ति के प्रसंग में भारतीय दर्शन की तुलना करने के विचार से यह मत व्यक्त किया है कि उपनिषदों में जिन तीन प्रकार की एषणाओं की चर्चा की गयी है, उनमें से लोक-एषणा अर्थात् संसार में लोग मानें या जानें, यह इच्छा एडलर की प्रभुत्व कामना वाली बात से ही मिलती-जुलती है। उपनिषदों में जो पुत्र-एषणा की चर्चा की गयी है कि सांसारिक जीव को पुत्र की कामना होती है, इसे बाबू गुलाबराय ने फ्रॉयड नामक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक द्वारा प्रतिपादित मूल मनोवृत्ति काम-वासना से मिलती-जुलती ही माना है। हमारे उपनिषदों में जिस वित्त-एषणा की बात कही गयी है कि धन-संग्रह करने की इच्छा भी होती है, उसे बाबू गुलाबराय ने पाश्चात्य विचारक मार्क्स द्वारा प्रतिपादित 'भौतिक आवश्यकता' के समान माना है। यद्यपि एषणाओं को बाबूजी ने पाश्चात्य विचारकों से मिलता-जुलता माना है, परन्तु भारतीय दर्शन की इस विशेषता या असमानता का उल्लेख भी किया है कि हमारे यहाँ इन्हें अन्तिम प्रेरक शक्ति नहीं माना है। इनसे अपर उठकर अर्थात् एषणाओं पर विजय प्राप्त करके व्यक्तित्व को महान् बनाने के प्रसंग में एषणाओं की चर्चा की गयी है, जबकि फ्रायड, एडलर आदि मूल-मनोवृत्ति मानते हैं और उन्हीं से प्रेरित होने का उल्लेख करते हैं।

विशेष—(1) भारतीय दर्शन को पाश्चात्य विचारकों की तुलना में अधिक गहरा बताया गया है।

(2) भारतीय संस्कृति के गरिमापूर्ण प्रसंगों का उद्‌घाटन किया गया है।

(3) विवेचनात्मक शैली की तुलनात्मक पद्धति का उपयोग किया गया है।

गद्यावतरण (5)—हम अपने स्वप्नों, भूल के कार्यों, हँसी-मज़ाक में निकले हुए वाक्यों और शब्दों की प्रतिक्रियाओं से अपने चरित्र का अध्ययन कर सकते हैं। अपनी बुरी वृत्तियों का न तो दमन करना ही अच्छा है, और न उनकी लगाम ढीली कर देना श्रेयस्कर है। वास्तव में न कोई वृत्ति बुरी है न अच्छी। मर्यादा से बाहर हो जाना ही वृत्ति को बुरा बना देना है। हम अपनी बुरी वृत्तियों का उन्नयन कर उनकी प्रबल शक्ति को समाज के उपयोगी कार्यों में लगा सकते हैं। हमको उनकी शक्ति दबाकर उन्हें विस्फोटक का रूप न देना चाहिए, वरन् उस शक्ति का उचित उपयोग कर उनका परिमार्जन और उन्नयन करना वांछनीय है।

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 131)

शब्दार्थ—वृत्तियों=आदतों, कार्यप्रेरक शक्तियों। मर्यादा=सीमा औचित्य का स्तर। उन्नयन=ऊँचा बनाना, उदात्त बनाना। विस्फोटक=विद्रोह या तोड़-फोड़ करने वाला।

प्रसंग—बाबू गुलाबराय 'अँधेरी कोठरी' नामक निबन्ध के अन्त में मनोवैज्ञानिकों द्वारा अवचेतन मन, ग्रन्थियों आदि के असामान्य आचरण के सिद्धान्तों की व्याख्या करने के बाद अपना अभिमत देते हैं, पाठकों को सुझाव देते हैं कि श्रेयस्कर मार्ग क्या है—

व्याख्या—जब अवचेतन में दबी हुई वासनाएँ हमारे हलके चिन्तन के क्षणों में अपने मुख से कह जाते हैं या स्वप्नों में, जब चेतन मन सुषुप्तावस्था में रहता है; देखते हैं या गलती करते समय अपना आत्म-विश्लेषण करते हैं तो पता चलाया जा सकता है कि हमारे अवचेतन मन में कैसी-कैसी ग्रन्थियाँ बन गयी हैं, जो वासनाओं को दमित करने से बनती हैं। आत्म-विश्लेषण करके हम अपने चरित्र का अध्ययन कर सकते हैं। बाबू गुलाबराय का मत है कि वासनाओं को न तो दबाना चाहिए और न उन्हें इतनी ढील देनी चाहिए कि हमारी सामाजिकता पर आँच आने लगे। मर्यादाहीन होकर तो हम समाज के लिए अभिशाप ही बन जायेंगे। बाबूजी की मान्यता है कि वासनाएँ न तो बुरी होती हैं न अच्छी। क्योंकि अच्छाई-बुराई तो उनको पनपने देने की स्थिति पर निर्भर करती है। लेखक का अपने पाठकों को सुझाव है कि हम अपने भीतर छिपी प्रबल शक्ति को दमित करके, उसको समाज के कल्याण की ओर उन्मुख कर दें तो समाज का भी भला हो और हममें भी बुराइयाँ न रहने पायें। यदि हम वासनाओं को दबायेंगे तो वे विस्फोट करके हमें पागल भी बना सकती हैं। क्योंकि मनोवैज्ञानिकों का मत है कि ग्रन्थियों के अधिक दबाव से व्यक्ति असामान्य व्यवहार करने लगता है। इसलिए वासनाओं को दबाने के बजाय उनका उन्नयन (Sublimation) कर देना चाहिए, उन्हें उदास बना देना चाहिए।

विशेष—(1) पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के अवचेतन मन, असामान्य मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक विश्लेषण वाद के विचारों का सारांश प्रस्तुत निबन्ध में दे दिया है।

(2) भारतीय दृष्टिकोण, नीतिमत्ता, मर्यादा, आदर्श आदि का ध्यान रखकर लेखक ने श्रेयस्कर मार्ग का सुझाव दिया है।

(3) विवेचनात्मक शैली का प्रयोग दृष्टव्य है।

□

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रश्न 1—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्ध-साहित्य का परिचय देते हुए हिन्दी निबन्ध-जगत् में उनका स्थान निर्धारित कीजिए।

अथवा

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों की विशेषताएँ बताइये।

अथवा

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का भाषा-शैली की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए और उनकी निबन्ध विषयक उपलब्धियों की चर्चा कीजिए।

उत्तर—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्ध विचारात्मक होते हैं। उन्होंने भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की परम्पराओं को अखण्ड बनाये रखने का प्रयास किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दो प्रकार के निबन्ध प्रमुख रूप से लिखे हैं—

(1) आलोचनात्मक निबन्ध।

(2) व्यक्तिपरक (ललित निबन्ध)।

आपका योगदान यही माना जाता है कि आपने निबन्ध कला को अधिकाधिक प्रांजल और परिमार्जित बनाया है। प्राचीन और अर्वाचीन सभी प्रकार के विषयों पर निबन्ध लिखकर द्विवेदीजी ने निबन्ध क्षेत्र को व्यापक आयाम दिया है। योगमार्ग, सन्तसाहित्य, साहित्य का इतिहास, आलोचना, फलित ज्योतिष, इन्द्रजाल, नाट्य कला, प्राचीन सुकुमार विनोद, आदि का उल्लेख अपने निबन्धों में करके द्विवेदी जी ने साहित्य, धर्म, संस्कृति, नीति, राजनीति, प्रकृति, उत्सव, आदि विषयों से हिन्दी निबन्ध को समृद्ध और सम्पन्न बनाया है।

आपके निबन्ध संग्रहों में अशोक के फूल, विचार-प्रवाह, हमारी साहित्यिक समस्याएँ, विचार और वितर्क, गतिशील चिन्तन, साहित्य का मर्म, कल्पलता, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, कुटज, साहित्य-सहचर, और आलोक पर्व प्रमुख हैं।

आचार्य द्विवेदी के निबन्धों की निम्न वर्गों में विभक्त किया जाता है—

समीक्षात्मक निबन्ध—वैष्णव कवियों की रूपोपासना, समीक्षकों की समीक्षा, प्रेमचन्द का महत्व, प्रसादजी की कामायनी, द्विवेदीजी की देन—शैली, हिन्दी का भक्ति साहित्य, दादू, मधुर रस की साधना, संस्कृत साहित्य में कल हंस, संस्कृत और हिन्दी कविता का भविष्य, भारतीय साहित्य की प्राण-शक्ति, नया साहित्यिक दृष्टिकोण, भक्तिकाल के प्रमुख कवियों का व्यक्तित्व, रीति-काव्य, हिन्दी को पंजाब की देन तथा हिन्दी का वर्तमान और भविष्य आदि निबन्ध इसी कोटि में आते हैं।

सांस्कृतिक निबन्ध—भारत की सांस्कृतिक समस्या, हमारी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली, भारतीय संस्कृति की देन, भारतीय फलित ज्योतिष, शव-साधना, पण्डितों की पंचायत, हमारी संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध, प्रायश्चित की घड़ी, घर जोड़ने की माया, कला महामाया, चिन्मय विलास, शकुनसूक्ति, दीपावली-सामाजिक मंगलेच्छा का पर्व आदि।

ऐतिहासिक निबन्ध—वैशाली, वैशाली की कलायें, कलाओं की प्राचीनता, देश-संस्कार ब्राह्मण का कला से सम्बन्ध, अन्तःदुखी वृक्षवाटिका, दोला विलास, विनोद के साथी पक्षी, भित्तिचित्र स्वर्ण और रजत पात्र, मंडन द्रव्य, गुफाएँ और मन्दिर, मृगया विनोद, दरबारी लोगों के मनोविनोद।

वैयक्तिक निबन्ध—अशोक के फूल, वसन्त आ गया है, सावधानी की आवश्यकता, क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है, एक कुत्ता और एक मैना, आप फिर और गये, शिरीष के फूल, मेरी जन्मभूमि, नाखून क्यों बढ़ते हैं, देवदारु, कुटज, आत्मदान का सन्देशवाहक बसन्त है आदि।

गवेषणात्मक निबन्ध—हिन्दी में शोध का प्रश्न, कलाओं की प्राचीनता, रामायण और पुराण, बौद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य, कविता और काव्य-समय, कवि प्रसिद्धियाँ आदि।

भाषा—आपकी भाषा में संस्कृत की शब्दावली से लेकर उर्दू, बंगला तिब्बती, प्राकृत, अपभ्रंश और अँग्रेजी का विशाल शब्द-भण्डार विद्यमान है। आपकी भाषा में अनेक उद्धरण भरे रहते हैं, जिससे भाषा रोचक बन पड़ी है। कहावतों, मुहावरों और उक्तियों की वक्रता तथा लाक्षणिकता से युक्त अनुपम कलात्मकता की सृष्टि करके द्विवेदीजी ने अपने निबन्धों की भाषा का शृंगार किया है। सूक्तिपरक वाक्यों द्वारा आपकी भाषा सारवन बन पड़ी है। आपकी भाषा के विषय में डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना का निम्नमत द्रष्टव्य है—

"इस प्रकार आपकी भाषा परिनिष्ठित, सुसंस्कृत एवं शिष्ट जनानुमोदित है। वह व्याकरण के अनुशासन से अनुशासित है, उसमें सभी प्रकार के विचारों एवं भावों के वहन करने की अपूर्व क्षमता है, वह जनसाधारण के सर्वथा अनुकूल है, वह सर्वसाधारण की बोल-चाल के शब्दों से सुसज्जित है, वह पाण्डित्यपूर्ण विवेचन के साथ-साथ व्यंग्य-विनोद से भी परिपूर्ण है। उसमें भावुकता एवं कवित्व की भी छटा विद्यमान है। वह सरल, सजीव एवं बोधगम्य है।"

—(हिन्दी के प्रतिनिधि निबन्धकार पृ० 278)

शैलीगत वैविध्य—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में अनेक प्रकार की शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। डॉ० रामचन्द्र तिवारी ने उनके हिन्दी गद्य में निम्न पाँच प्रकार की शैलियाँ बतायी हैं—

(1) समासबहुल संस्कृतनिष्ठ अलंकृत गद्य-शैली।
(2) विचारप्रधान संयमित एवं मर्यादित गद्य-शैली।
(3) संवेगप्रधान भावात्मक गद्य-शैली।
(4) तथ्य एवं सूचनाप्रधान इतिवृत्तात्मक शैली।
(5) सामान्य वार्तालाप में प्रयुक्त सहज, व्यावहारिक गद्य-शैली।

—(हिन्दी का गद्य साहित्य, पृ० 481)

डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना ने यह संख्या बढ़ाकर ग्यारह तक पहुँचा दी है। इन शैलियों के विषय में अधिक विस्तार में न जाकर प्रत्येक शैली का एक उदाहरण देकर ही सन्तोष करना पड़ रहा है—

समीक्षात्मक शैली—"गुप्तजी की काव्यधारा के लेखक गिरीशजी में विश्लेषण और निर्णय दोनों की प्रवृत्ति है, व्याख्या की कमी है। गुप्तजी के समग्र

साहित्य को कई खण्डों में बाँटकर उन्होंने इसकी जाँच की है। उनके विश्लेषण तर्कपूर्ण और युक्तियाँ समीचन हैं। साहित्य में प्रवेश करने की क्षमता उनमें है। लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि किसी कारणवश उनमें तन्मयीभाव की मात्रा कम पड़ गयी है। गुप्तजी के महाकाव्यों का मेरुदण्ड, जिसे हम पारिवारिक रसबोध या डोमेस्टिक सेण्टीमेण्ट कह सकते हैं, सोलह आना स्वदेशी है और जोर देकर यह बात कही जा सकती है कि उस पर कोई राजनीतिक प्रभाव नहीं पड़ा।" —(विचार और वितर्क, पृ० 29-23)

वार्तामूलक शैली—"कमलेशजी—मगर श्रीमती तिवारी का दृष्टिकोण एक दम उड़ा देने की चीज नहीं है। उसकी भी क्यों न जाँच हो। रत्नाकरजी—कोई हर्ज नहीं है, मैं केवल उस दृष्टिकोण की बात कह रहा था। वस्तु की यथार्थता उसकी समग्रताओं से प्रकट होती है, इस या उस पार्श्व की स्थिति से नहीं।"

—(कल्पलता, पृ० 175)

वक्तृत्व शैली—"आज हम जिस भाषा और साहित्य के विषय में विचार करने बैठे हैं, उसमें विषय की कोई चर्चा आरम्भ करने के पहले हमें यह भली-भाँति समझ लेने की जरूरत है कि हिन्दी भाषा और साहित्य हमारा साध्य ही नहीं, साधन भी है; बल्कि हमारी आज की परिस्थिति में वह साध्य की अपेक्षा साधन अधिक है। × × × मैं आपको स्मरण दिला दूँ कि हिन्दी इसलिए महान् नहीं है कि हममें से कुछ लोग इसमें कविता या कहानी लिख लेते हैं या सभा-मंचों पर व्याख्यान दे लेते हैं।" —(हमारी साहित्यक समस्याएँ, पृ० 40-45)

चिन्तनमूलक शैली—"केवल एक ही बात हमारी राष्ट्रीय परम्परा की देन है और हमारे स्वभाव-संस्कारों से अविच्छेद के रूप में सम्बद्ध है—गुरु का प्राधान्य।" —(अशोक के फूल, पृ० 60)

विक्षेप शैली—"प्रत्येक शाखा की झबरीली टहनियाँ, कँटीले पत्तों की लहरदार छन्दों का वितान तानती हैं कि छाया-चेरी-सी अनुगमन करती है। × × पेड़ क्या है किसी सुलझे हुए कवि के चित्त का मूर्तिमन्त छद है—धूनी के आकर्षण को अभिभूत करके लहरदार वितानों की शृंखल को सावधानी से सम्हालता हुआ, विपुल व्योम की ओर एकाग्रीभूत मनोहर छन्द है।" —(कुटज, पृ० 66)

तरंग शैली—"कवि एक दिन शायद इस अज्ञातनामा युवक के कीर्तिकलाप का भी चित्रण करेगा, उस दिन यह जवाहर-कवच यह गाँधी-मुकुट, यह अक्षय तूणीर मौला, यह एकाश्वरथ यह चाबुकवही सारथी, ह पौर युवतियों के लीला कटाक्ष से अवहेलित रथ-घर्घर, यह आचर लाज-विरहित राजमार्ग, सब कुछ उसके कल्पना नेत्रों के सामने खिच जायेंगे।" —(विचार और वितर्क, पृ० 158)

विवरणात्मक शैली—"ज्योतिषी को सूर्यादि ग्रहचार का ख्याल रखना पड़ता था। कब कौनसा ग्रह कैसा रंग पकड़ रहा है, उसकी प्रकृति, विकृति, प्रपाण, वर्ण,

किरण, प्रकाश, संस्थान, अस्त, उदय, भिन्नपथ, वक्रता, ग्रहण युति आदि के शुभाशुभ फल को बताना पड़ता था। चन्द्रमा की कोई नोंक किस तरफ उठी है, मंगल का रंग फीका क्यों हो रहा है, इत्यादि बातें उसे जाननी पड़ती थीं।"

—(अशोक के फूल, पृ० 20-7)

गवेषणात्मक शैली—"तिब्बत में बहुत से संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद पाये गये हैं। इस देश में बौद्ध-धर्म सातवीं शताब्दी में पहुँचा था। वहाँ ये ग्रन्थ दो भागों में विभक्त किये गये हैं—कैंजुर और तैंजुर; पहले में मूल ग्रन्थों के अनुवाद हैं और दूसरे में व्याख्यापरक ग्रन्थ और व्यवहार सम्बन्धी पुस्तकाएँ हैं।"

—(हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० 162)

इतिवृत्तात्मक शैली—"समृद्ध लोगों के घर की दीवालें स्फटिक मणि के समान स्वच्छ, और दर्पण के समान चिकनी हुआ करती थीं। इनके अपर सूक्ष्म रेखा विशारद कलाकार जो विद्युत निर्माण में कुशल होते थे, पत्र लेखन में कोविद होते थे, वर्ण पूरण या रंग भरने की कला के उस्ताद हुआ करते थे, नानारस के चित्र अंकित करते थे।" —(प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ० 64)

आत्मपरक शैली—"मुझे बुखार आ रहा है। यह भी नियति का मज़ाक ही है। सारी दुनियाँ में हल्ला हो गया कि वसन्त आ रहा है और मेरे पास आया बुखार। और कांचनार की ओर वह देखता हूँ और सोचता हूँ मेरी ही वजह से तो यह नहीं रुका है?" —(अशोक के फूल, पृ० 13)

व्यंग्यात्मक शैली—"जब-जब मैं कलकत्ते के चिड़ियाघर में गया हूँ, तब-तब मुझे ऐसा लगा है कि संसार के जीवों में सबसे अधिक गम्भीर और चिन्तामग्न चेहरा उस चिड़िया घर में रखे उस वनमानुष का है।" —(अशोक के फूल, पृ० 49)

निष्कर्ष—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का निबन्ध-साहित्य विविधरूपा है। उनकी भाषा में भी इसीलिए प्रौढ़ता, प्रांजलता के साथ विविधता है। उनकी शैली में भी विविधता है। उन्होंने बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में हिन्दी निबन्ध-जगत् में पदार्पण किया और अपनी प्रतिभा के बल पर ही व्यक्तिव्यंजक या ललित निबन्धों के तो वे प्रतिष्ठापक युगनिर्माता साहित्यकार ही बन गये। अधिक विस्तार में न जाकर डॉ० जयचन्द्रराय का निम्न कथन उद्धृत करके प्रस्तुत विवेचना का समापन किया जाता है—

"वस्तुतः साहित्यिक निबन्ध के स्वतन्त्र प्रकार का जो विकास अब तक नहीं हो पाया था, वह द्विवेदीजी के हाथों सम्पन्न हुआ। उनके निबन्धों के सामने आ जाने पर यह बात स्पष्ट हो गयी कि "द्विवेदीजी ने अपनी विशिष्ट रचना-प्रणाली द्वारा व्यक्तिव्यंजक निबन्ध का स्वरूप संगठित किया।"

—(हिन्दी वाङ्मय, बीसवीं शती, पृ० 350-51)

□

साहित्य में व्यक्ति और समष्टि
निबन्ध-सारांश

प्रश्न 2—"साहित्य में व्यक्ति और समष्टि नामक निबन्ध में आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रतिपादित विचारों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

'साहित्य में व्यक्ति और समष्टि' नामक निबन्ध का सारांश अपने शब्दों में लिखिए।

अथवा

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'साहित्य में व्यक्ति और समष्टि' नामक निबन्ध में दिये विचारों से आप कहाँ तक सहमत हैं ? विवेचना कीजिए।

उत्तर—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत निबन्ध की भूमिका में मानव जाति के द्वारा इन्द्रियजन्य ज्ञान के विकास की चर्चा की है, उसमें व्यक्तिगत ज्ञान के तंतुओं पर समाज के प्रभाव का उल्लेख भी किया गया है। इसे अन्तर्वैयक्तिक तथ्य-जगत् कहा गया है और इसे परिवर्तित होते चले जाने वाला विकासशील जगत् माना है। जातीय विकास के साथ भाषा के वाहन पर सवार होकर परिवर्तित होते चले जाने वाले वैयक्तिक तथ्यों और सूक्ष्म विचारों का आदान-प्रदान होता है। इन्हीं परिवर्तित-परिवर्द्धित उपलब्धियों के लिखित रूप को 'साहित्य' माना है। संक्षेप में लेखक के विचारों को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जाता है—

परिवर्तित, परिवर्द्धित ज्ञान-राशि—पहले तो द्विवेदीजी ने इस निबन्ध के विषय के अनुरूप प्रयुक्त होने वाली भाषा के विषय में स्पष्टीकरण दिया है कि वह व्यवहार्य भाषा से भिन्न स्तर की होगी। मानव द्वारा अर्जित किये जाने वाले ज्ञान के सम्बन्ध में लेखक के निम्न वाक्य द्रष्टव्य हैं—

"वस्तुतः ज्ञान दोमुँहा पदार्थ है। उसके एक ओर तथ्य है, दूसरी ओर सत्य। सभी तथ्य सत्य नहीं होते। ऐसा कह सकते हैं कि तथ्यों के भीतर सत्य ओत-प्रोत होकर वर्तमान रहता है।"

द्विवेदीजी का विचार है कि इन्द्रियों द्वारा ज्ञानार्जन किया जाता है। वह कुछ तथ्यों की उपलब्धि करता है। उनके सहारे स्मृतियों द्वारा व्यक्ति की दुनियाँ बनती है, जो प्रतिक्षण परिवर्तित, परिवर्धित होती रहती है। एक व्यक्ति के तथ्य दूसरे के तथ्यों से टकराते हैं और जो सामान्य तत्व छँटते हैं वही हमारी ज्ञान-राशि बनते हैं। द्विवेदीजी इससे दो निष्कर्ष निकालते हैं—

(1) व्यक्ति के अन्तःकरण से गृहीत तथ्यात्मक ज्ञान-राशि पूर्ण रूप से वैयक्तिक नहीं होती। इसे अन्तर्वैयक्तिक तथ्य-जगत् कह सकते हैं।

(2) यह अन्तर्वैयक्तिक तथ्य जगत् निरन्तर परिवर्तनीय एवं परिवर्द्धनीय है

भाषा और साहित्य—तथ्यात्मक अनभूतियों को एक चित्त से दूसरे तक पहुँचाने का वाहक है भाषा और अन्तर्वैयक्तिक तथ्य जगत् के संघर्ष से विकसित होने

वाली संचित ज्ञान-राशि का वाहक भी भाषा ही है। भाषा भी गतिशील होती है, इससे किसी जाति के विकास का पता चल जाता है क्योंकि भाषा ही सूक्ष्म विचारों को प्रकट करती है। वैज्ञानिक तथ्यों को प्रकट करने वाली भाषा अधिक विकसित होती है। इसी कारण अविकसित या अर्द्धविकसित जातियों की भाषा उतनी सूक्ष्म वैज्ञानिक अभिव्यक्ति नहीं कर सकती। विद्यालयों, सभाओं, मुद्रण-व्यवस्था द्वारा ये तथ्यात्मक अनुभूतियाँ एक-दूसरे के विचारों से टकराती हैं तो विचार का वेगवान रूप सामने आता है। इस परिवर्द्धमान उपलब्धि के लिखित रूप को ही द्विवेदीजी ने 'साहित्य' माना है। उन्हीं के शब्दों में—

"विशेष रूप से साहित्य उपलब्धियों के उस लिखित रूप को कहते हैं जो हमारी सामान्य मनुष्यता को प्रभावित करती रहती है और भाव के आवेग से वेगवती होकर सामान्य मनुष्य के सुख-दुख को विशेष मनुष्य—श्रोता या पाठक—के चित्त में संचारित कर देती है।"

और इसके बाद कहा कि 'भाषा साहित्य का वाहन है।'

भाषा : सामाजिक सम्बन्धों का प्रतीक—आदिम युग से मानव मात्र ने जो विकास-यात्रा तय की है उसमें क्रम सरल अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों से जटिलतर होते चले गये सम्बन्धों की ओर चला है। एक-एक उलझन दूसरी उलझन को जन्म देती चली जाती गयी। इस विकासयात्रा में एक विरोधाभास यह बताया है कि प्रत्येक जटिलता को व्यक्त करने के लिए जो शब्द-रूपी प्रतीकसमाज ने बनाया, उसने बड़ी सरलता से उन बातों को स्पष्ट करना प्रारम्भ किया। एक नोट का उदाहरण देकर लेखक ने श्रम के विनियम का पूरा इतिहास निहित करने की बात स्पष्ट की है। शब्दों को इसी प्रकार एक अर्थ का प्रतिनिधि माना और इसी आधार पर प्रत्येक शब्द मानव मात्र के अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का प्रतीक है। अर्थात् भाषा सामाजिक सम्बन्धों की प्रतीक है। ये शब्द इस प्रकार गढ़े गये हैं कि आसानी से एक व्यक्ति की भावना को दूसरे तक पहुँचा देते हैं। योगियों का उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया गया है कि यदि सामाजिक सम्बन्ध न होते तो भाषा की आवश्यकता न पड़ती।

प्रतिभा का प्रादुर्भाव—इस सामाजिक विकास की यात्रा में कुछ मनुष्य दूसरे व्यक्तियों के उपलब्ध तथ्यों से अपने ज्ञान भण्डार को बढ़ाते हैं और धीरे-धीरे यह योग्यता बढ़ती ही जाती है। कुछ व्यक्ति इस दूसरों के ज्ञान को पचाने और अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने की अधिकाधिक क्षमता रखते हैं, उनमें 'प्रतिभा' मानी जानी चाहिए। यह प्रतिभा वैयक्तिक नहीं है; अपितु सामाजिक पहुँच से उत्पन्न होती है। इसलिए प्रतिभा समाज की सामूहिक पहुँच को सूचित करती है। प्रतिभावान कवि की पहचान भी बतायी गयी है कि वह अपने आस-पास के जगत् से ही काव्य की सामग्री का चयन करता है।

शब्द और अर्थ—जब स्थूल जगत् का प्रभाव मानव पर पड़ता है तो उनकी कृति पर भी पड़ेगा। शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। यदि एक व्यक्ति अपने

चित्त की बात को दूसरे तक पहुँचाये तो शब्द सार्थक हो जाता है। शब्द में जो अर्थ सीमित रहता है, उससे अधिक अर्थ भावावेग और व्यंजना द्वारा व्यंजित होता है। छन्द भी उस आवेग में वृद्धि करता है। उपन्यास में यद्यपि छन्द का आवेग नहीं होता तथापि वह कम महत्वपूर्ण नहीं। अनुप्रास द्वारा भावावेग में नृत्य का छन्द जोड़ा जाता है। अर्थहीन छन्द-प्रवाह को संगीत बताया गया है। सगीत को गणित की तरह माना है क्योंकि दोनों में बाह्य जगत् की सत्ता का अर्थात् शब्दों का वेग नहीं होता है। काव्य और संगीत में अन्तर ही यह है कि काव्य में शब्दार्थ की सत्ता होती है, संगीत में नहीं। काव्य द्वारा बाह्य सत्ता से जुड़ी बातें होती हैं। काव्य इसीलिए सभी प्राणियों में ऊपरी भेद रहने के बावजूद भीतर एक सी संवेदना जगाने में सक्षम होता है।

आवेग और कम्पन—काव्य और संगीत के प्रभाव में यही अन्तर होता है कि चूँकि काव्य में बाह्य सत्ता से जुड़ाव रहता है अतः उसका कम्पन प्रगाढ़ होता है और संगीत का प्रभाव अपेक्षतया कम होता है। संगीत में राग टोड़ी से उत्पन्न शोक और काव्य में करुण रस द्वारा उत्पन्न शोक की मात्रा में अन्तर रहता है, क्योंकि काव्य की संवेदना प्रगाढ़ होती है। काव्य में भी जब शब्दालंकार अधिक होते हैं तो स्वर के स्वच्छन्द प्रवाह में बाधा उत्पन्न होती है। अर्थ की जटिलता के कारण संगीत के बराबर भी आनन्द उत्पन्न नहीं होता। परन्तु अर्थालंकार रसोत्पत्ति में सहायक होने के कारण गूढ़ अनुभूति करने में सहायक माने जाते हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों द्वारा बिम्ब ग्रहण कराकर अनुभूति में सहजता लायी जाती है। एकरीति-कालीन कवि के 'ईख की सी दाँतुन के' उपमान का उदाहरण देकर लेखक यह बताना चाहता है कि चमत्कारमूलक अलंकार थोड़ी देर के लिए ही बिजली की-सी काँध बराबर भावभन्दोलन कर पाते हैं। अतः वे आवेगहीन माने जाते हैं।

सामाजिक मंगल का विधायक साहित्य—काव्य का उद्देश्य चूँकि दूसरे के चित्त में प्रभाव उत्पन्न करना होता है, अतः काव्य को सामाजिक वस्तु माना है। राजशेखर के हवाले से बताया है कि सामाजिक को काव्य की पूर्ण उपलब्धि तभी होती है जब उस पर सरस्वती की कृपा हो। साहित्य की उपादेयता बताते हुए लेखक कहता है कि "जो साहित्य हमारी वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से ऊपर उठाये और सामान्य मनुष्यता के साथ एकाकार कर दे, वही उपादेय है।" काव्य का भाव पक्ष किसी देश या काल तक ही सीमित नहीं रहता। व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठाकर संसार के प्राणियों में जो एकत्व है, उसी तक पहुँचाने वाला काव्य, नाटक या उपन्यास अच्छा बताया गया है। पशु सामान्य वृत्तियों को ही बढ़ी बताने वाला साहित्य अच्छा नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि साहित्य हमें स्वार्थी बनाये या उस मनुष्यता की उच्चभूमि का खण्डमात्र रहने दे तो भी वह उच्चकोटि का साहित्य नहीं हो सकता। साहित्यिक दल या सम्प्रदाय द्वारा समर्थित साहित्य भी उच्च कोटि

का नहीं माना गया है। लेखक के शब्दों में साहित्य की उपादेयता के विषय में यह स्पष्ट मत व्यक्त किया गया है—

"साहित्य सामाजिक मंगल का विधायक है। ×× एक ही मनोराग जब व्यक्तिगत सुख-दुख के लिए नियोजित होता है, तो छोटा हो जाता है, परन्तु जब सामाजिक मंगल के लिए नियोजित होता है तो महान् हो जाता है, क्योंकि वह सामाजिक कल्याण का जनक होता है।"

अन्त में भागवत् पुराण के हवाले से मनोरागों के इस सामाजिक उपयोग को उत्तम बताया है। लेखक की मान्यता है कि यदि व्यक्ति की पृथक् सत्ता, उसकी संकीर्ण लालसा, और मोह ही प्रबल हो उठे तो ऐसा साहित्य बेकार हो जाता है।

साहित्य में व्यक्ति और समष्टि

व्याख्याएँ

गद्यावतरण (1)—जब हम साहित्य में व्यक्ति और समूह के प्रश्न पर विचार करने के लिए प्रयत्नशील हैं, तो कुछ ऐसी भाषा तो अपने आप आ उपस्थित होगी, जो नित्य व्यवहार्य भाषा से कुछ भिन्न श्रेणी की होगी। वस्तुतः ज्ञान दो-मुँहा पदार्थ है। उसके एक ओर तथ्य है, दूसरी ओर सत्य। सभी तथ्य सत्य नहीं होते। ऐसा कह सकते हैं कि तथ्यों के भीतर सत्य ओत-प्रोत होकर वर्तमान रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी ज्ञानेन्द्रियों के सहारे कुछ तथ्यों की उपलब्धि करता है और कुछ बातों की उपलब्धियों और स्मृतियों के ताने-बाने से व्यक्ति की दुनिया बनती है। परन्तु यह दुनिया बदलती रहती है। वैयक्तिक तथ्य-जगत् निरन्तर दूसरे लोगों के उपलब्ध तथ्य-जगत् से टकराते हैं और सामान्य तत्व छँट-छँटकर ज्ञान-राशि के रूप में परिणत होते हैं।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 132)

शब्दार्थ—व्यवहार्य=व्यवहार में, प्रयोग में लायी जाने वाली। श्रेणी=स्तर, कोटि। वर्तमान=विद्यमान, मौजूद। उपलब्ध=मौजूद, विद्यमान। वैयक्तिक तथ्य=एक व्यक्ति के तथ्य।

प्रसंग—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'साहित्य में व्यक्ति और समष्टि' नामक निबन्ध के प्रारम्भ में आदि-काल चली आने वाली से मानव के ज्ञान-कोष के विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हैं।

व्याख्या—साहित्य के क्षेत्र में जब व्यक्ति और विश्व-सभाव के सम्बन्धों के विषय में विचार करते समय द्विवेदीजी ने बड़े संकोच के साथ यह बात स्वीकार की है कि जनसाधारण की बोलचाल की भाषा से काम नहीं चल सकता। कारण स्पष्ट है कि विषय गुरु-गम्भीर होने के कारण साधारण भाषा में विवेचित नहीं हो सकता। इस भाषा के उच्च स्तर के विषय में लेखक ने सावधान करने के बाद ही पाठक को यह विचार व्यक्त किया है कि ज्ञान के दो मुँह होते हैं अर्थात् ज्ञान दो

ओर से अर्जित हो सकता है या प्राप्त किया जा सकता है। उसके दो छोरों में एक ओर तथ्य है तो दूसरी ओर सत्य। यह सत्य शाश्वत है जबकि तथ्य शाश्वत नहीं होते और न यह आवश्यक है कि तथ्यों में सत्य ही निहित हो। क्योंकि सत्य बहुत गहरी चीज हैं, जबकि तथ्य केवल सतही होते हैं। ज्ञानार्जन की पद्धति और प्रक्रिया को लेखक स्पष्ट करता है कि इन्द्रियों द्वारा अर्जित तथ्यों को स्मृति-पटल पर उभारकर प्रत्येक व्यक्ति का ज्ञान-लोक निर्मित होता है। इस ज्ञान-लोक में परिवर्तन, परिवर्द्धन होता रहता है। एक व्यक्ति के ज्ञानार्जित तथ्य दूसरे व्यक्तियों के उपलब्ध तथ्यों के साथ टकराते हैं और उनमें दोनों के समान तथ्य ही बचते हैं जो हमारी ज्ञान-राशि में सम्मिलित होते जाते हैं।

विशेष—(1) हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बौद्धिक विश्लेषण के लिए विवेचनात्मक शैली का आश्रय ग्रहण किया है।

(2) भाषा संस्कृतनिष्ठ, गुरु-गम्भीर और शुद्ध साहित्यिक है।

(3) व्यक्ति और समाज के परस्पर संघटन, संघर्ष और समन्वय को ही ज्ञानार्जन की प्रक्रिया बताया गया है।

गद्यावतरण (2)—हमारी भाषा इन सामान्य तथ्यात्मक अनुभूतियों को एक व्यक्ति के चित्त से दूसरे चित्त तक ढोने का साधन भी है। और दीर्घकाल से अनेक अन्तर्वैयक्तिक तथ्य-जगत् के संघर्ष से विकसित होने वाली और संचित होती रहने वाली ज्ञान-राशि का वाहन भी है। यह भी गतिशील है। भाषा हमारी सामान्य अन्तर्वैयक्तिक उपलब्धियों के गाम्भीर्य और प्रसार का पता बताती है। जिस जाति का जितना ही विकास हुआ रहता है, वह उतना ही अधिक सूक्ष्म विचारों को प्रकट कर सकती है।"

शब्दार्थ—तथ्यात्मक अनुभूतियों = व्यक्ति के अनुभव जगत् में एकत्र तथ्यों। अन्तर्वैयक्तिक = एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच में होने वाले। संचित = इकट्ठी। गाम्भीर्य = गम्भीरता। प्रसार = फैलाव, विस्तार।

प्रसंग—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य में व्यक्ति और समष्टि' नामक निबन्ध के अन्तर्गत जातियों के विकास की कहानी को व्यक्त करने वाली भाषा की समाज-निर्माण में भूमिका को स्पष्ट किया है—

व्याख्या—लेखक की मान्यता है कि व्यक्तियों के समूह द्वारा अर्जित किये गये ज्ञानात्मक तथ्यों को दूसरे समूह तक और एक व्यक्ति के चित्त से दूसरे व्यक्ति के मन तक भाषा ही तो ज्ञान-राशि का प्रादान-प्रदान करती है। इतनी लम्बी अवधि से किसी जाति या समूह में जो अन्तर्वैयक्तिक आदान-प्रदान होता चला आ रहा है, उसके संघर्ष और संघर्ष से उत्पन्न होने वाली ज्ञान-राशि को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक भाषा ही तो पहुँचाती है। भाषा भी इसीलिए परिवर्तित होती रहती है। इसी कारण किसी जाति या समूह की भाषा से उस जाति या समूह की

बौद्धिक गम्भीरता का पता चल जाता है। भाषा से यह भी पता चल जाता है कि अमुक जाति के चिन्तन में कितनी गहनता रही होगी और कितना विस्तार रहा होगा। भाषा के द्वारा सूक्ष्म विचार-विवेचन की सामर्थ्य के आधार पर ही किसी जाति की सूक्ष्म चिन्तनपरक समताओं का पता चलता है। इस तरह भाषा ही किसी जाति के संघर्ष और उपलब्धियों का इतिहास अपने में सँजोये रहती है।

विशेष—(1) व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में भाषा की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका रहती है।

(2) द्विवेदीजी ने भाषा के अध्ययन से किसी जाति के विकास की प्रकृति और उसके स्तर की जानकारी मिलने की सम्भावना व्यक्त की है।

(3) प्रस्तुत गद्यावतरण में भाषा शैली गुरु-गम्भीर और परिष्कृत प्रांजल है।

(4) भाषा की सामाजिक विकास में महत्ता का प्रतिपादन करके भाषा की कार्य प्रणाली का उल्लेख भी किया गया है।

गद्यावतरण (3)—जहाँ विद्यालयों, सभा.मचों, मुद्रण-यन्त्रों के द्वारा व्यक्ति की तथ्यात्मक अनुभूतियों की तरंगें दूसरों की विशाल ज्ञान-राशि से सदा टक्कर खाती रहती हैं, वहाँ विचार का स्रोत प्रबल वेग से बहता रहता है। जहाँ यह बात नहीं है, वहाँ के लोग स्तब्धवृत्तिक और आदिम भावापन्न बने रहते हैं। निरन्तर परिवर्तमान और परिवर्धमान इन उपलब्धियों के लिखित रूप को ही हम सामान्य रूप से 'साहित्य' कहते हैं। विशेष रूप से साहित्य उपलब्धियों के उस लिखित रूप को कहते हैं, जो हमारी सामान्य मनुष्यता को प्रभावित करती रहती हैं और भाव के आवेग से वेगवती होकर सामान्य मनुष्य के सुख-दुःख को विशेष मनुष्य श्रोता या पाठक के चित्त में संचारित कर देती हैं। भाषा साहित्य का वाहन है।

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 133)

शब्दार्थ—स्रोत=धारा, नदी। स्तब्धवृत्तिक=ठहराव वाले, एक ही स्थान पर अगतिपूर्वक पड़े रहने वाले। आदिम भावापन्न=अविकसित, पिछड़े हुए। परिवर्तमान=परिवर्तनशील, विकासशील। वाहन=ले जाने वाला होने वाला।

प्रसंग—प्रस्तुत गद्यांश में मानव जाति के इतिहास में साहित्य और भाषा की भूमिका पर प्रकाश डाला गया है—

व्याख्या—कुछ देश या जातियाँ इतनी विकसित और समृद्ध हो जाती हैं कि वहाँ पठन-पाठन के साधन, ज्ञान के विस्तार के साधन पुस्तक, समाचार-पत्र आदि के प्रकाशन की व्यवस्था होती है, जिनके माध्यम से विचारों का परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। वहाँ विचारों में प्रबल गति के साथ विकास होता रहता है। जहाँ ज्ञान के विकास के ये साधन नहीं होते, वहाँ के लोग पिछड़े रह जाते हैं जहाँ के

तहाँ बने रहते हैं और अन्य विकासशील जातियों को देखते के देखते रह जाते हैं। यदि किसी जाति की विकास-यात्रा के पड़ावों, उपलब्ध ज्ञान-तत्वों को लिखित रूप में उपलब्ध करा दिया जाय, तो वही साहित्य कहा जा सकता है। हाँ, साहित्य केवल उन उपलब्धियों के लिखित रूप को ही कह सकते हैं, जिनसे सामान्य जनों के सुख-दुःखों की प्रेषणीय बनाती हैं। यह भाव-संचरण का कार्य चूँकि भाषा के माध्यम से ही होता है। अतः भाषा को विचार की वाहिका माना जाता है।

विशेष – (1) प्रस्तुत गद्यावतरण में समाज के विकास में साहित्य की भूमिका का उल्लेख किया गया है।

(2) सजग गतिशील समाज का साहित्य उच्च-कोटि का होता है।

(3) साहित्य और भाषा की प्रेषणीय शक्ति का विवेचन किया गया है।

(4) भाषा उच्च स्तरीय और शैली विवेचनात्मक है।

गद्यावतरण (4)—यह तो निश्चित बात है कि स्थूल जगत् को छोड़कर मनुष्य नहीं रह सकता और न अपने देश और काल की सीमाओं से अस्पृष्ट रहकर ही कोई शिल्प-सृष्टि कर सकता है। साहित्य भी स्थूल जगत् से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकता; क्योंकि शब्द और अर्थ ही उसके शरीर हैं और अर्थ शब्दों द्वारा सूचित बाह्य सत्ता को प्रकट करते हैं। एक व्यक्ति के चित्त के उचित अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराके ही शब्द सार्थक होता है। भावावेग द्वारा कम्पित और आन्दोलित शब्दार्थ अपने सीमित अर्थ से अधिक को प्रकाशित करता है।"

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 135)

शब्दार्थ—अस्पृष्ट = बिना छुए, बिना सम्पर्क में आये। स्थूल जगत्= भौतिक, इन्द्रियगोचर विश्व। विच्छिन्न=कटा-बँटा, अलग। कम्पित=कम्पायमान।

प्रसंग—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य में व्यक्ति और समष्टि' निबन्ध में 'शब्द और अर्थ' उपशीर्षक के अन्तर्गत, आने वाले प्रस्तुत गद्यांशों में शब्द और अर्थ की साहित्य के लिए उपयोगिता और शब्द-प्रयोग की सार्थकता पर विचार किया है।

व्याख्या—आचार्य द्विवेदीजी ने पहले तो स्थूल जगत् की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है कि स्थूल जगत् ही हमारे सूक्ष्म वैचारिक जगत् को प्रभावित करता है। जहाँ कलाकार रहता है और जिस युग में रहता है, उन दोनों का (स्थान और काल का) प्रभाव कलाकार पर अवश्य पड़ता है। इसीलिए साहित्य भी एक कला होने के कारण देश-काल से प्रभावित होता है। शब्द और अर्थ ही साहित्य के कलेवर का निर्माण करते हैं। शब्दों में जो निहित अर्थ होता है उसी के बल पर साहित्य इस बाह्य स्थूल जगत् का, उसकी गति-विधियों का बिम्ब पाठक के चित्त में सम्प्रेषित करता है। शब्द की सार्थकता इसी बात में है कि वह साहित्यकार के भावों और विचारों को पाठक के चित्त तक संक्रमित कर दे। शब्द का अर्थ जब

भावोद्दीपन द्वारा आन्दोलित और परिचालित होता है, तब उसमें अनेक गम्भीर और सूक्ष्म अर्थच्छटाएँ आ जाती हैं।

विशेष—(1) देशकाल की कला-सृजन में महत्वपूर्ण भूमिका बतायी गयी है।

(2) शब्दों द्वारा प्रेषणीयता ही सार्थकता का आधार बतायी गयी है।

(3) साहित्य में शब्दों का विशेष अर्थ भावों की तरंगों के कारण अर्थच्छटाओं का रूप धारण कर लेता है।

(4) भाषा उच्चस्तरीय परिष्कृत, प्रांजल है।

(5) विवेचनात्मक शैली के माध्यम से विचारों का प्रतिपादन किया गया है।

(6) साहित्य की परिभाषा उसकी सम्प्रेषणीयता और अर्थच्छटाओं की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है।

गद्यावतरण (5)—वस्तुतः अर्थहीन छन्द-प्रवाह संगीत ही है। संगीत में बाह्य जगत् की उस सत्ता से, जो शब्द द्वारा प्रकाशित होती है, कम से कम योग होता है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गणित में उस अन्तर सत्ता से जो आवेग-कंपित स्वर से प्रकाशित होती है, कम से कम योग होता है। चेतना के एक प्रान्त पर संगीत है, दूसरे पर गणित। संगीत में जिसे स्वर कहते हैं, वह एक प्रकार का वेग ही है। बाह्य अर्थों से युक्त होने पर वह आवेग के रूप में प्रकट होता है। परन्तु काव्य जिस प्रकार शब्द प्रकाश्य अर्थ के द्वारा बाह्य विषय सत्ता से बँधा रहता है, उस प्रकार संगीत नहीं बँधा रहता। वह अपने आप ही स्पन्दित होता है।

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 136)

शब्दार्थ—अर्थहीन=बिना अर्थ के। छन्द प्रवाह=गेयात्मक अभिव्यक्ति। आन्तर सत्ता=भीतरी, मन की सत्ता प्रान्त=स्थान, हिस्सा, क्षेत्र। प्रकाश्य=प्रकाशित होने वाली।

प्रसंग—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य में व्यक्ति और समष्टि' नामक निबन्ध में 'शब्द और अर्थ' उपशीर्षक में संगीत और काव्य का अन्तर स्पष्ट किया है।

व्याख्या—द्विवेदीजी ने संगीत की व्याख्या करते हुए उसे अर्थ विहीन छन्द-प्रवाह की संज्ञा प्रदान की है; क्योंकि संगीत में छन्द तो होता है, वह गाया भी जाता है परन्तु स्वर-लहरी ही उसमें आनन्द का संचार करती है। यदि गीत के शब्द और मिल जाते हैं तो बाह्य जगत् से सम्बन्ध, और हो जाता है और तब संगीत काव्य के धरातल पर पहुँच जाता है क्योंकि काव्य में शब्दों के अर्थों द्वारा बाह्य जगत् के बिम्ब उभारे जाते हैं। गणित में भी संगीत की भाँति शब्द नहीं होते हैं। इसी आधार पर द्विवेदीजी ने चेतना के इन दो पक्षों को बराबर माना है कि चेतना के एक ओर संगीत विराजमान रहता है और दूसरी ओर गणित। शब्द अपने अर्थ द्वारा जो भाव कम्पन पैदा करता है, वह गणित में नहीं होता और न संगीत में ही होता है। संगीत में स्वर का वेग तो होता है किन्तु काव्य में शब्द और अर्थों के द्वारा वह वेग और अधिक बढ़ जाता है और उसका सम्बन्ध बाह्य जगत्

से हो जाने के कारण बिम्ब विधान करने लगता है और पाठक या श्रोता तक भाव-सम्प्रेषित करता है। संगीत में ऐसा नहीं होता, वहाँ न शब्द होता है और न उसका अर्थ—इसलिए संगीत में बाह्य सत्ता के साथ सम्बन्ध नहीं हो पाता। वह तो अपने आप भीतर से ही गतिशील हो उठता है, झंकार उत्पन्न करता है।

विशेष—(1) संगीत और काव्य का अन्तर स्पष्ट किया गया है।

(2) संगीत और गणित को समान बताया गया है।

(3) **भाषा** संस्कृततत्सम तथा उच्च स्तरीय साहित्यिक है।

(4) **विवेचनात्मक शैली** के माध्यम से विचार-विश्लेषण किया गया है।

(5) कला विषयक विवेचन में द्विवेदीजी ने बाह्य जगत् और उससे जुड़ाव को अहम् मानते हुए अपने **मानवतावादी आलोचनात्मक** दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

गद्यावतरण (6)—"विभिन्न आवेगों से भिन्न-भिन्न जाति और आकृति के कम्पन उत्पन्न होते हैं। संगीत से भी उसी प्रकार के कम्पन उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार के कम्पन काव्य से उत्पन्न होते हैं, फिर भी संगीत से उत्पन्न कम्पनों का योग बाह्य सत्ता से कम होने के कारण श्रोता के चित्त में उतनी गाढ़ अनुभूति नहीं होती, जितनी काव्यजनित आवेग के कम्पन से होती है।"

शब्दार्थ—आवेगों=मन या चित्त में उभरने वाले उद्वेगों। कम्पन=भाव-तरंगें। बाह्य सत्ता=जगत् का दृश्य रूप। गाढ़=गहरी, गहन, गाढ़ी।

प्रसंग—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने अपने निबन्ध 'साहित्य में व्यक्ति और समष्टि' के अन्तर्गत 'आवेग और कम्पन' उपशीर्षक के अन्तर्गत संगीत और काव्य की तुलना करते हुए काव्य द्वारा पाठक या श्रोता के हृदय में अधिक झंकृति और प्रभाव की चर्चा की है—

व्याख्या—द्विवेदीजी की मान्यता है कि संगीत और काव्य दोनों में ही आवेगजनित कम्पन उत्पन्न होते हैं किन्तु दोनों के द्वारा उत्पन्न कम्पनों में बहुत अन्तर पाया जाता है। संगीत का सम्बन्ध चूँकि बाह्य सत्ता और जगत् के नाना व्यापारों से बिल्कुल नहीं होता, उसमें तो केवल अन्तर सत्ता से, स्वीकार साक्षात्कार होता है, इसलिए संगीत की झंकार उतनी गहन नहीं हो पाती जितनी काव्य की होती है, क्योंकि काव्य में शब्द और शब्दों में व्यंग्य अर्थ के द्वारा बाह्य सत्ता या दृश्यमान् जगत् के नाना व्यापारों का बिम्ब विधान द्वारा पाठक या श्रोता तक भाव-संचरण कराया जाता है। इसलिए पाठक या श्रोता के हृदय पर काव्य का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। अपने इस स्थान की पुष्टि के लिए आचार्यजी ने एक राग टोड़ी में निबद्ध संगीत रचना द्वारा उत्पन्न शोक की लहर की तुलना में काव्य में निष्पन्न करुण रस द्वारा उत्पन्न प्रभाव को बहुत गहरा बताया है।

इस प्रकार द्विवेदीजी ने काव्य में शब्द और अर्थ की संगति से बाह्य सत्ता के साथ सम्बन्ध होने के आधार पर ही संगीत से अधिक भाव-सम्प्रेषण की क्षमता का विकास माना है।

विशेष—(1) आचार्य द्विवेदी ने यहाँ संगीत की तुलना में काव्य की सम्प्रेषण क्षमता को अधिक मानकर काव्य की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

(2) यहाँ संगीत और काव्यकला के मूल्यांकन का जो आधार द्विवेदीजी ने माना है, वह बाह्य सत्ता के साथ सम्बन्ध ही माना है। इससे द्विवेदीजी के सामाजिक यथार्थ और मानवतावादी सिद्धान्त का पता चलता है।

(3) भाषा उच्च स्तरीय, संस्कृतनिष्ठ एवं साहित्यिक है।

(4) विवेचनात्मक शैली की तुलनात्मक पद्धति द्वारा विवेचन-विश्लेषण किया गया है।

गद्यावतरण (7)—साहित्य सामाजिक मगल का विधायक है। यह सत्य है कि वह व्यक्ति विशेष की प्रतिभा से ही रचित होता है; किन्तु और भी अधिक सत्य यह है कि प्रतिभा सामाजिक प्रगति की ही उपज है। एक ही मनोराग जब व्यक्तिगत सुख-दुख के लिए नियोजित होता है, तो छोटा हो जाता है; परन्तु जब सामाजिक मंगल के लिए नियोजित होता है, तो महान् हो जाता है; क्योंकि वह सामाजिक कल्याण का जनक होता है। साहित्य में यदि व्यक्ति की अपनी पृथक् सत्ता, उसकी संकीर्ण लालसा और मोह ही प्रबल हो उठे, तो वह साहित्य बेकार हो जाता है।

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 139)

शब्दार्थ—मंगल=कल्याण। विधायक=निर्माण करने वाला। मनोराग=मन में उत्पन्न होने वाला भाव। नियोजित=योजना करके रखा जाये।

प्रसंग—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने निबन्ध—'साहित्य में व्यक्ति और समष्टि' के अन्तर्गत निबन्ध के अंत में दिये गये उपशीर्षक—'सामाजिक मंगल का विधायक साहित्य' के अन्तर्गत यह विचार व्यक्त किया है कि साहित्य में व्यक्तिगत सुख-दुखों की अभिव्यक्ति उच्च कोटि की नहीं मानी जाती है—

व्याख्या—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य का उद्देश्य यही मानते हैं कि वह समाज का समष्टि का मंगल करने वाला होना चाहिए। वे यह तो मानते हैं कि साहित्य भले ही एक व्यक्ति द्वारा रचा जाता है, वह व्यक्ति अपनी प्रतिभा (वैयक्तिक क्षमता) के बल पर ही साहित्य की रचना करता है, तथापि वह प्रतिभा सामाजिक विकास के कारण ही तो उत्पन्न हुई है। कारण कि हमारे यहाँ व्यक्ति को समाज का एक अंग मात्र मानकर यह माना गया है कि व्यक्ति के विकास में ही समाज के स्तर का, विकसित अवस्था का सीधा प्रभाव पड़ता है। यदि कवि, या साहित्यकार के मन में किसी भाव या विचार का उद्भव होता है और वह उस भाव को किसी एक व्यक्तिगत सुख-दुख तक सीमित रखकर काव्य में व्यक्त करता है तो

उसका स्तर उतना ऊँचा नहीं हो सकता जब कि कवि लोक-कल्याण की भावना से अनुप्राणित होकर काव्य-रचना करता है। द्विवेदीजी की मान्यता है कि यदि कवि अपनी व्यक्तिगत इच्छा, मोह आदि तक ही सीमित रहकर भाव-व्यंजना करता है तो उसका साहित्य उच्चकोटि का साहित्य नहीं हो सकता।"

विशेष—(1) द्विवेदीजी ने साहित्य के लिए लोक-मंगल को अनिवार्य बताकर व्यक्तिवादी आलोचना-सिद्धान्त का खण्डन किया है।

(2) आचार्य शुक्ल की तरह लोक-मंगलवादी दृष्टिकोण का आलोचना सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रस्तुत गद्यांश में किया गया है।

(3) व्यक्ति की प्रतिभा को समाज की देन कहने के पीछे समाज का ऋण स्वीकार किया गया है।

(4) उच्च-स्तरीय संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग द्रष्टव्य है।

(5) विवेचनात्मक शैली में यथार्थवादी आलोचना दृष्टि का परिचय दिया गया है। □

डॉ० नगेन्द्र

प्रश्न 1—हिन्दी निबन्ध साहित्य में डॉ० नगेन्द्र का स्थान निर्धारित कीजिए। और उनके निबन्ध साहित्य का परिचय दीजिए।

अथवा

डॉ० नगेन्द्र की भाषा-शैली विषयक विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

अथवा

डॉ० नगेन्द्र के निबन्धों का उल्लेख करते हुए उनके निबन्ध-लेखन की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—डॉ० नगेन्द्र ने हिन्दी निबन्ध जगत् को समृद्ध और सम्पन्न बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। उन्होंने अधिकांश समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं, जिनमें कुछ सैद्धान्तिक समीक्षा विषयक निबन्ध हैं और कुछ व्यावहारिक समीक्षा विषयक निबन्ध हैं। उनकी सामान्य उपलब्धियों के विषय में डॉ० हरिमोहन का निम्न कथन उद्धृत किया जा सकता है—

"डॉ० नगेन्द्र आधुनिक युग के एक प्रसिद्ध आलोचक हैं। प्राचीन ज्ञानकोश को आधुनिक दृष्टि से परखकर उसे एक सर्वथा नया और अद्वितीय रूप देकर प्रस्तुत करने के कारण भी आपका अपना विशिष्ट स्थान है। आचार्य शुक्ल के बाद डॉ० नगेन्द्र हिन्दी साहित्य के एक प्रमुख स्तम्भ हैं। आपके निबन्ध आपके अनुभूत्यात्मक विचारक, प्रौढ़ आलोचक तथा उलझे हुए समीक्षक-व्यक्तित्व को प्रस्तुत करते हैं।"

(प्रतिनिधि हिन्दी निबन्धकार, पृ० 129)

डॉ० नगेन्द्र ने हिन्दी के आलोचना जगत् को अनेक ग्रन्थ भेंट किये हैं, जिनमें सुमित्रानन्दन पन्त, साकेत : एक अध्ययन, आधुनिक हिन्दी नाटक, रीति-काव्य

की भूमिका, देव और उनकी कविता, आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका, अरस्तू का काव्य-शास्त्र, काव्य में उदात्त तत्व, रस-सिद्धान्त, काव्य-बिम्ब, तन्त्रालोक से यन्त्रालोक तक, शैली-विज्ञान और भारतीय सौन्दर्यशास्त्र नामक पुस्तक प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

सम्पादित ग्रन्थों में, हिन्दी ध्वन्यालोक, हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, भारतीय नाट्य-साहित्य, भारतीय काव्य-शास्त्र की परिभाषा, हिन्दी साहित्य का इतिहास, भारतीय वाङ्मय, हिन्दी अभिनव भारती, हिन्दी काव्य-प्रकाश, भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त और वाद आदि पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं।

डॉ० नगेन्द्र के आलोचनात्मक निबन्ध उनके विचार और विवेचना, विचार और अनुभूति, अनुसधान और आलोचना नामक संग्रहों में प्रकाशित हुए हैं। बाद में आस्था के चरण नामक वृहद ग्रन्थों में उनके सभी निबन्ध एक ही स्थान पर प्रकाशित किये गये हैं। आपकी सभी रचनाएँ नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुई हैं।

डॉ० नगेन्द्र के निबन्धों में अनुसन्धान विषयक, साहित्य-सिद्धान्त विषयक, हिन्दी काव्य-प्रवृत्तियों से सम्बन्धित, हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों से सम्बन्धित, कृतिकारों से सम्बन्धित, कृतियों से सम्बन्धित, रेखाचित्रात्मक और सामयिक समस्याओं से सम्बन्धित विषयों पर लिखे गये हैं।

डॉ० नगेन्द्र के निबन्धों का सम्यक् रूप से मूल्यांकन करते हुए डॉ० रामचन्द्र तिवारी ने निम्न टिप्पणी की है—

"यों तो डॉ० नगेन्द्र के निबन्ध प्रायः आलोचनात्मक ही हैं, इसलिए उनके आलोचक रूप की विशेषताओं का निदर्शन करते हुए प्रकारान्तर से उनके निबन्धों का वैशिष्ट्य भी निदर्शित हो जाता है। किन्तु उनके निबन्ध-लेखन की कुछ शैलीगत विशेषताएँ इतनी मोहक और कलापूर्ण हैं कि उनकी पृथक् चर्चा का लाभ संवरण नहीं किया जा सकता। शास्त्रीय, तर्कपूर्ण तथा विचार और विश्लेषण प्रधान निबन्धों के अलग कर देने के बाद डॉ० नगेन्द्र के शेष निबन्धों में गोष्ठी शैली, संवाद शैली, नाटकीय शैली, भावात्मक शैली, प्रश्नोत्तर शैली, तुलनात्मक शैली, व्यंग्य शैली, आत्मकथात्मक शैली, पत्रात्मक शैली, परिचर्चा शैली तथा आत्मविश्लेषण शैली की कलापूर्ण भंगिमाओं का संयोजन देखा जा सकता है।"

(हिन्दी का गद्य साहित्य, पृ० 79-80)

डॉ० तिवारी ने डॉ० नगेन्द्र के प्रारम्भिक निबन्धों में जिस शैलीकार के दर्शन किये हैं, वह शैलीकार प्रौढ़ता के बढ़ते चरणों के साथ तिरोहित होता चला गया, ऐसा अभिव्यक्त किया है—

"वस्तुतः डॉ० नगेन्द्र के व्यक्तित्व में एक अनुभूतिशील चेतना सक्रिय रही है। जब कभी उनकी यह चेतना अध्ययन के गांभीर्य और शास्त्रीयता के कवच को

तोड़कर व्यक्त होने के लिए मचल उठती है, तब वे उसे थोड़ी छूट देकर रचनात्मक एवं ललित निबन्ध की सृष्टि को सम्भव बना देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में, कम से कम 'विचार और अनुभूति' के लेखन काल में, डॉ० नगेन्द्र की रचनात्मक प्रतिभा अधिक जाग्रत थी। क्रमशः वय और अध्ययन की प्रौढ़ता के साथ उनकी रचनात्मक क्षमता का ह्रास लक्षित होता है।"

(हिन्दी का गद्य-साहित्य, पृ० 580)

डॉ० नगेन्द्रजी के निबन्ध-लेखन की उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए डॉ० जयचन्द्रराय ने रम्य और अद्भुत प्रयोगों के लिए नगेन्द्रजी का महत्व स्थापित किया है—

"नगेन्द्रजी ने निबन्धों के क्षेत्र में अनेक रम्य और अद्भुत प्रयोग किये हैं। कलाकार की निष्ठा के साथ उनके कलेवर को निखारा-सँवारा है और तत्व-निरूपक आचार्य की भाँति उनकी प्राण-चेतना को अधिक शक्तिमती बनाया है। कहीं विवेचना, कहीं संवाद, कहीं गोष्ठी, कहीं स्वप्नजन्य चित्र-विधान, कहीं पत्र-लेखन और कहीं आत्मविश्लेषण का आश्रय लेकर उन्होंने अपने निबन्ध-साहित्य के विशाल प्रासाद को वैदिध्यपूर्ण कलात्मक प्रयोगों से सुसज्जित किया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्हें प्रत्येक प्रयोग में अपेक्षित सफलता प्राप्त हुई है। इन बहुविध प्रयोगों के मध्य भी उनकी वितर्कात्मक बुद्धि सजग रही है और विश्लेषण की शृंखला टूटी नहीं है।" —(हिन्दी वाङ्मय बीसवीं शती, पृ० 353)

निबन्धों की भाषा—डॉ० नगेन्द्र के निबन्धों की भाषा सर्वत्र परिष्कृत, प्रांजल और गरिमापूर्ण है। उसमें संस्कृत तत्सम शब्दों का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। इस सम्बन्ध में डॉ० रामचन्द्र तिवारी का निम्न कथन उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता है—

"डॉ० नगेन्द्र की भाषा मूलतः एक शास्त्र निष्ठ आलोचक की भाषा है। यों विषयानुकूल उसका स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। डॉ० नगेन्द्र ने संस्कृत और अँग्रेजी की शब्दावली को निःसंकोच ग्रहण किया है; किन्तु यथासम्भव उसे हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल परिवर्तित कर लिया है। सामान्यतः डॉ० नगेन्द्र की भाषा के तीन रूप लक्षित होते हैं। एक तो उनकी विचार-विश्लेषण और व्याख्या की भाषा है। यह संयत, नपी-तुली, संस्कृतनिष्ठ और एक सीमा तक पारिभाषिक होती है। दूसरी उनकी रचनात्मक कृतियों की भाषा है। यह अपेक्षाकृत सहज, रागनिष्ठ, चित्रमयी, प्रवाहपूर्ण और वर्ण्य सापेक्ष्य होती है। तीसरी उनकी वह भाषा है जो नाटकीय सन्दर्भों में अन्य पात्रों के साथ मानसिक तादात्म्य के क्षणों में उन्हीं के व्यक्तित्व का बोध कराने के लिए प्रयुक्त हुई है।"

—(हिन्दी का गद्य-साहित्य, पृ० 581)

डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना ने डॉ० नगेन्द्र की भाषा की निम्न विशेषताएँ बतायी हैं—

(1) मुख्यतया संस्कृतनिष्ठ परिनिष्ठित तत्सम पदावली का प्रयोग।

(2) पारिभाषिक पदावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग।

(3) अँग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों के आधार पर स्वनिर्मित या प्रचलित पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग।

(4) अँग्रेजी के शब्दों का भी स्वतन्त्र रूप में प्रयोग।

(5) लोक प्रचलित उर्दू शब्दों का पर्याप्त प्रयोग।

(6) वाक्यावली के तीन रूप—

(क) विचारात्मक, व्याख्यात्मक निबन्धों में पाण्डित्यपूर्ण।

(ख) संस्मरणात्मक निबन्धों में सहज, सरल, सुबोध, सरस।

(ग) भावात्मक निबन्धों में कवित्व के प्राधान्य के साथ अलंकृत, लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक।

(7) चित्रमयता।

(8) सूत्रात्मक वाक्यों द्वारा अर्थ-गाम्भीर्य एवं उक्ति-वैचित्र्य से परिपूर्ण।

(9) विराम चिह्नों से पूर्णतः सुशोभित।

(10) नूतन भाव-बोध, अर्थ-बोध के लिए कोष्ठकों का प्रयोग।

(11) मुहावरों के प्रयोग द्वारा नीरसता, शुष्कता का परिहार।

इन विशेषताओं का उल्लेख करने के बाद वे डॉ० नगेन्द्र की भाषा के विषय में निम्न वक्तव्य देते हैं—

"इतना सब कुछ होने पर भी आपकी भाषा आपके दृढ़ संस्कारों की नींव पर स्थित है, वह प्रौढ़ और प्रांजल प्रयोगों से सुसज्जित है, उसकी परिनिष्ठित और परिमार्जित शब्दावली पूर्णतः प्रयोगार्ह है, वह विविध प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली से अलकृत है, वह शुद्ध एवं व्याकरणसम्मत है, वह संस्कृतगर्भित होते हुए भी प्रवाहमयी है, उसमें विषयानुसार परिवर्तन की अपूर्व क्षमता है, वह समीक्षा के सभी अंगों से परिपूर्ण है, वह गुरु गम्भीर एवं तथ्यपूर्ण होकर भी हास-परिहास एवं व्यंग्य-विनोद की विवृत्ति में भी समर्थ है, उसका प्रत्येक शब्द अपनी अनिवार्यता के साथ उपस्थित है. वह अनावश्यक विस्तार एवं उलझन से रहित है, उसमें अभिव्यक्ति की विलक्षण क्षमता है, उसका वाक्य-विन्यास प्रायः हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल है, वह मानक हिन्दी का सुष्ठु एवं सुन्दर नमूना है, वह पारिभाषिक शब्दावली का प्रामाणिक रूप प्रस्तुत करती है और वह अभीष्ट अर्थ की सूक्ष्मातिसूक्ष्म छाया को व्यक्त करने में पूर्णतः सशक्त है।"

—(हिन्दी के प्रतिनिधि निबन्धकार, पृ० 355)

निबन्ध-शैली—जैसा कि भाषा विषयक विवेचन में स्पष्ट किया गया है कि अवसर के अनुरूप उनकी भाषा का रूप बदलता रहता है; उसी प्रकार शैली की भी स्थिति है। अधिकांश समीक्षात्मक निबन्धों में उन्होंने विवेचनात्मक शैली का ही प्रयोग किया है किन्तु अवसर पड़ने पर उन्होंने कहीं प्रवाह शैली, तो कहीं व्यंगात्मक शैली का प्रयोग भी किया है। डॉ० हरिमोहन ने विवेचनात्मक, प्रसादात्मक, प्रवाह शैली का उल्लेख किया है। डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना ने निम्न बारह प्रकार की शैलियों का उल्लेख किया है। अधिक विस्तार में न जाकर इनके उदाहरण देकर ही सन्तोष करना पड़ रहा है—

विवेचनात्मक शैली—"आज सत्य से तात्पर्य है भौतिक वास्तविकता, शिव का अर्थ है भौतिक जीवन, सामाजिक स्वास्थ्य में सहायक तत्व और सुन्दर का आशय है स्वाभाविक एवं प्रकृत। पहले प्रकृत भावनाओं का संयम, दमन और गोपन ही उनका परिष्कार और संस्कार माना जाता था परन्तु आज इस प्रकार का दमन और गोपन अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी समझा जाता है।"

—(आस्था के चरण, पृ० 266)

नाटकीय संवादात्मक शैली—

कुमारामात्य—राजराजेश्वरी भगवती वीणापाणि की जय हो·····।

वीजापाणि—वादी अपना अभियोग उपस्थित करो।

—(आस्था के चरण, पृ० 459)

फीचर शैली—नगेन्द्र—आइए प्रोफेसर साहब, नमस्ते।

प्रोफेसर—नमस्ते, नगेन्द्रजी! कहिये, क्या हो रहा है? —(वही पृ० 292)

काल्पनिक परिसंवाद शैली—"परिणामस्वरूप डॉ० श्यामबिहारी मिश्र की अध्यक्षता में काशी में एक सभा बुलायी गयी, जिसमें हिन्दी के लगभग सभी नये-पुराने कलाकार उपस्थित थे। बहुत कुछ वाद-विवाद के उपरान्त यह निश्चित हुआ कि वर्तमान हिन्दी साहित्य की गतिविधि की जाँच की जाय और सबसे पहले कविता से श्रीगणेश हो।" —(वही, पृ० 422)

स्वप्नकथा शैली—"मेरा उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नहीं है—यह तो भाटों, मदारियों, विदूषकों और मसखरों का·····आशा है, आप मेरा मतलब गलत नहीं समझ रहे हैं।" —(विचार और अनुभूति, पृ० 28)

पत्र-लेखन शैली—

प्रिय गोपालदास,

तुम्हारा पत्र मिला। विषय मेरे अनुकूल है और सुनकर भी। सुकर इसलिए कि अभी कुछ दिन पूर्व मैंने अपने विद्यार्थियों के समक्ष केशव के आचार्यत्व पर भाषण दिया था।" —(आस्था के चरण, पृ० 352)

प्रत्यक्ष वर्णन शैली—'कहानी और रेखाचित्र' निबन्ध में।

संस्मरणात्मक शैली—राजेन्द्रप्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, नवीन, महादेवी, सियारामशरण गुप्त और श्री महाजन आदि पर लिखे गये निबन्धों में।

वार्ता शैली—'मेरी मान्यताएँ' नाम से तीन वार्ताओं में।

आत्मविश्लेषण शैली—'मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन' तथा 'शिकायत है' नगेन्द्र को डॉ० नगेन्द्र से शीर्षक निबन्धों में।

अभिभाषण शैली—साहित्य की शिक्षा, राष्ट्रीय संकट और साहित्य, शासन और हिन्दी नामक अभिभाषण में।

कवित्वमयी आलंकारिक शैली - कवीन्द्र के प्रति निबन्ध में, यथा—

"भारतीय जागरण के अग्रदूत ! तुम प्राची के आँगन में बालरवि के सामान उदित हुए, तुम्हारी प्रखर किरणों ने भारत के जड़ीभूत अंधकार को विदीर्ण कर दिया—ज्यों-ज्यों तुम अपना स्वर ऊँचा करते गये, हमारे रूढ़ि-बंधन शिथिल होते गये।" —(आस्था के चरण, पृ० 664)

इस प्रकार की शैलीगत उपलब्धियों के विषय में डॉ० सक्सेना ने निम्न वाक्यों में समाहारात्मक टिप्पणी दी है—

"इस प्रकार आपने विविध शैलियों का प्रयोग करते हुए निबन्धों का प्रणयन किया है, जिनके प्रारम्भ में प्रायः एक लघु भूमिका रहती है, जो पाठक को विषय से अवगत कराने का कार्य करती है। ××× आपके अधिकांश निबन्धों में यह निगमन पद्धति विद्यमान है।" —(हिन्दी के प्रतिनिधि निबन्धकार, पृ० 345)

आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के सन्दर्भ में
निबन्ध का सारांश

प्रश्न 2—डॉ० नगेन्द्र द्वारा रचित 'आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के सन्दर्भ में' शीर्षक निबन्ध का सारांश अपने शब्दों में लिखिए।

अथवा

'आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के सन्दर्भ में' शीर्षक निबन्ध में प्रतिपादित डॉ० नगेन्द्र के विचारों का प्रस्तुतीकरण कीजिए।

अथवा

आधुनिकता के विषय में डॉ० नगेन्द्र के क्या विचार हैं ? वे आधुनिकता के कितने अर्थ बताते हैं और उसकी परिधि के विषय में क्या मत व्यक्त करते हैं ?

उत्तर—डॉ० नगेन्द्र ने आलोच्य निबन्ध के प्रारम्भ में आधुनिक शब्द के तीन अर्थों को स्पष्ट किया है—

पहला अर्थ—सबसे पहले वे आधुनिक शब्द को एक विशेष काल अवधि का द्योतक मानते हैं और उसे भारतीय तथा यूरोप के देशों के सन्दर्भ में स्पष्ट करते हैं कि भारत में 1857 ई० के बाद और यूरोप में सत्रहवीं शती में विज्ञान के विकास के साथ आधुनिक युग प्रारम्भ हुआ।

दूसरा अर्थ—दूसरा अर्थ बताते हुए लेखक ने आधुनिक शब्द का सम्बन्ध वर्तमान से मानकर 'अतीत से भिन्न' या 'नये' के अर्थ में बताया है। इसको स्पष्ट करने के लिए उन्होंने बौद्ध युग को अब प्राचीन किन्तु अपने युग में निश्चय ही वह आधुनिक था, यह बताया है। इसे विचारपरक मानकर मध्य युग से भिन्न एक नये

जीवन-दर्शन का वाचक और ऐतिहासिक चेतना से समन्वित माना है। इसके अनुसार आधुनिकता को एक मिश्रित धारणा माना है, जिसमें निम्न बातें समाविष्ट की जा सकती हैं—

(1) देश-काल के साथ जीवन्त और सचेतन सम्बन्ध।

(2) जीवन-दृष्टि को कल्पना और आदर्श के बजाय व्यावहारिक या यथार्थ-परक बनाना। —(विवेकयुक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण)

(3) जीर्ण पुरातन का त्याग, संशोधन एवं पुनर्मूल्यांकन की पद्धति से नव-नव रूपों के विकास की आकांक्षा, वैचित्र्य और नवीनता के प्रति आकर्षण, रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह तथा नवजीवन के विकास का प्रयोग।

इस प्रकार समय के क्रम का नियंत्रण न मानकर आधुनिकता को समसामयिकता का पर्याय मानने से डॉ० नगेन्द्र ने इनकार किया है।

तीसरा अर्थ—तीसरे अर्थ को 'वर्तमान का युगबोध' तक सीमित मानकर इसे संकुचित अर्थ कहकर पुकारा है। इसके अन्तर्गत आज की स्थिति के यथार्थ परिज्ञान को ही आधुनिकता का आधार माना जाता है। अस्तित्व का शाश्वत संकट और इसी आधार पर अनवरत चिन्ता, जीवन की चेतना की जटिलता और शुष्कता को ही आधुनिकता की सीमा में मान लिया गया है। इसलिए आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यों के विघटन से जो आज के युग का प्रतिनिधित्व करने वाला अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन है, वही आधुनिकता का पर्याय मान लिया गया है। इसे 'निराशावादी वैज्ञानिक मानववाद' भी कहा गया है।

इस आधुनिक होने की बात के विरुद्ध निम्न प्रश्न उपस्थित किये गये हैं—

(1) क्या आधुनिकता का एकमात्र रूप अवसाद या अंधकारपूर्ण ही है?

(2) क्या आधुनिकता की व्याख्या करने वाले विचारक इसे निराशावाद का पर्याय मानते हैं।

(3) ऐसी आधुनिकता कहाँ तक काम्य है?

(4) क्या आधुनिकता को अपने आप में मूल्य माना जा सकता है।

इसके बाद उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर देते समय डॉ० नगेन्द्र ने अपनी अवधारणा स्पष्ट की है, जिसमें आधुनिकता की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। पहला विचार यह व्यक्त किया है कि आधुनिक जीवन में वैज्ञानिक अनुसन्धान की अहम् भूमिका रही है किन्तु क्या ये सभी वैज्ञानिक आविष्कार अवसाद की ही दृष्टि करते हैं। इसे मानना नगेन्द्र के मत से खण्डित यथार्थ है, समग्र यथार्थ नहीं।

आधुनिकता क्या काम्य है?—इस प्रश्न पर विचार करते हुए लेखक ने तर्क दिया है कि व्यापक निराशा तक आधुनिकता को सीमित रखना युग-सत्य नहीं हो सकता। वह सत्य की विकृति या सत्य का आभास मात्र ही माना जा सकता है, परन्तु ऐसा यथार्थ बाँध जीवन का ही निषेध करता है। फिर आधुनिकता को

लेखक ने एक विधि मात्र ही माना है और विधि से अधिक उसका महत्व नहीं माना है।

साहित्य के सन्दर्भ में आधुनिकता का महत्व—डॉ० नगेन्द्र ने आधुनिकता का विरोध करते हुए यह निष्कर्ष निकला है कि आधुनिकता का वैसा ही और उतना ही उपयोग और महत्व है, जैसा कि जीवन के सन्दर्भ में।

अतीत और वर्तमान का समन्वय - डॉ० नगेन्द्र की मान्यता है कि यद्यपि जीवन तो वर्तमान में ही होता है अतीत में नहीं, किन्तु वर्तमान में अतीत के संस्कारों और अनागत की कल्पना के साथ ही जीता है। इसीलिए लेखक ने भूत से उच्छिन्न और भविष्यत् से पराङ्मुख आधुनिकता को वाग्विलास मात्र माना है। पूर्वापर क्रम से टूटकर न तो जीवन संभव है और न कला।

गतिशीलता—आधुनिकता के लिए चिर परिवर्तनशीलता और व्यापक गतिशीलता को अनिवार्य तत्व माना है। परम्परा का संशोधन, जीवन के वैविध्य की स्पृहा, अपने पर्यावरण के माध्यम से आत्मसिद्धि की आकांक्षा को ही आधुनिकता की परिधि में समाविष्ट माना है। केवल अवसाद तक सीमित कर देना डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में उचित नहीं है।

विधि बनाम मूल्य—डॉ० नगेन्द्र ने प्रस्तुत निबन्ध के अन्त में यह विचार व्यक्त किया है कि आधुनिकता एक विधि मात्र है, किन्तु यह मूल्य नहीं बन सकती। इसका तात्पर्य यह है कि डॉ० नगेन्द्र आधुनिकता के आधार पर साहित्य के स्वरूप और गुण का निर्णय करना उचित नहीं मानते हैं। प्रेय और श्रेय की महत्ता का प्रतिपादन करके डॉ० नगेन्द्र ने नये साहित्यकारों की इस प्रवृत्ति पर चिन्ता व्यक्त की है कि वे सम्प्रेषण क्षमता की रूढ़ि के विरुद्ध विद्रोह कर रहे हैं। मानवीय गुण के निर्णायक तत्वों में आनन्द और कल्याण को ही मानते हुए लेखक ने आधुनिक साहित्यकारों की कटु आलोचना की है कि इस तरह की आधुनिकता को साहित्य के लिए घातक ही माना जाना चाहिए। वे प्रबल अनुभूति की सफल अभिव्यक्ति को ही साहित्य का मूल तत्व मानते हैं।

व्याख्यायें

गद्यावतरण (1)—"दूसरा अर्थ विचारपरक है जिसके अनुसार 'आधुनिक' एक विशिष्ट दृष्टिकोण—मध्ययुगीन विचार पद्धति से भिन्न एक नये जीवन दर्शन का वाचक है, यद्यपि पहला अर्थात् ऐतिहासिक अर्थ भी उसमें गर्भित है। वस्तुतः आधुनिकता की धारणा का मूल आधार ऐतिहासिक चेतना ही है। आधुनिक दृष्टि मध्ययुगीन और प्राचीन की अपेक्षा इसलिए भिन्न है कि इसमें इतिहास-बोध की प्रधानता है; अर्थात् यह अपने पर्यावरण के प्रति निश्चय ही सजग है। मध्य युग और पुराकाल से भी जीवन-दृष्टि अनिवार्यतः ही अपने परिवेश से प्रभावित थी, परन्तु वह उसके प्रति कदाचित् उतनी प्रबुद्ध नहीं थी; इतिहास की चेतना का विकास उस समय नहीं हुआ था।

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 141)

शब्दार्थ—जीवन-दर्शन=जीवन जीने की पद्धति के विषय में एक चिन्तन। ऐतिहासिक चेतना=इतिहास को दृष्टि-पथ में रखकर आगे की बात सोचना। इतिहास-बोध=अपने अतीत के परिचय में वर्तमान का चिन्तन और वर्तमान को सुधारने की मीमांसापूर्ण दृष्टि। परिवेश=वातावरण।

प्रसंग—डॉ० नगेन्द्र द्वारा विरचित 'आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के सन्दर्भ में' शीर्षक निबन्ध के प्रारम्भ में 'आधुनिकता' शब्द के तीन अर्थों को स्पष्ट करके मूल कथ्य की पृष्ठभूमि निर्माण की गयी है। यहाँ 'आधुनिकता' शब्द के दूसरे अर्थ की व्याख्या की गयी है कि वह इतिबोध प्रधान होता है।

व्याख्या—आधुनिक को डॉ० नगेन्द्र ने एक वैचारिक दृष्टिकोण से जुड़ा हुआ माना है। यह आधुनिकता का बोध एक विशिष्ट दृष्टिकोण से परिपूर्ण होता है कि मध्ययुगीन विचार-पद्धति के साथ उसका कोई भी जुड़ाव नहीं होता। वह मध्ययुगीन चिन्तन से नितान्त भिन्न होता है। किन्तु इसके साथ ही साथ पृष्ठभूमि के रूप में यह आधुनिकता बोध ऐतिहासिक अर्थ को साथ लेकर चलता है अर्थात् पुराना नहीं, नया; इस अर्थ का भी समावेश इस आधुनिकता-बोध में समाविष्ट रहता है। इसी कारण लेखक ने इस आधुनिकता का मूल आधार ऐतिहासिक चेतना को माना है। प्राचीन और मध्य युगीन विचार-पद्धति से आधुनिकता-बोध को आचार्य नगेन्द्र ने इस आधार पर भिन्न माना है कि आधुनिकता बोध में इतिहास-बोध की प्रधानता है। इसका तात्पर्य यही है कि आधुनिकता बोध का आशय यही है कि जो विचार-पद्धति अपने आस-पास के वातावरण, घटना-क्रम आदि के प्रति अत्यन्त संवेदनशील बनी रहे। अन्त में एक प्रश्न उठाया है कि प्राचीन और मध्यकाल के लोग भी तो अपने परिवेश से प्रभावित रहे होंगे परन्तु केवल प्रभावित होना ही पर्याप्त नहीं है। आधुनिकता-बोध में यह परिवेश के प्रति अधिक सजग, प्रबुद्ध अधिक है। दूसरे यह भी है कि प्राचीन तथा मध्यकाल में आधुनिकता-बोध जैसी इतिहास-चेतना नहीं थी।

विशेष—(1) प्रस्तुत गद्यांश में आधुनिकता-बोध के लिए पर्यावरण के प्रति सजगता एवं प्रबुद्धता तथा इतिहास-चेतना आदि को आवश्यक माना गया है।

(2) 'आधुनिकता' की विशेष व्याख्या की गयी है।

(3) व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग दृष्टव्य है।

(4) संस्कृतनिष्ठ भाषा का उच्चस्तीय प्रयोग किया गया है।

गद्यावतरण (2)—यह आधुनिक का पारिभाषिक अर्थ है जो समय से परिबद्ध नहीं है। इस अर्थ में आधुनिक एक विशिष्ट धारणा का—उपर्युक्त विशेषताओं की संहति का वाचक है। उस पर समय के क्रम का नियन्त्रण नहीं है। उदाहरण के लिए मध्य युग के रोमी-दार्शनिकों की अपेक्षा अरस्तू अधिक आधुनिक हैं; शंकराचार्य की अपेक्षा बुद्ध का जीवन-दर्शन अधिक आधुनिक है, हिन्दी में सूरदास की अपेक्षा कबीर अधिक आधुनिक हैं। यह अर्थ वर्तमान से असम्बद्ध नहीं है, परन्तु

वर्तमान से एकदम बँधा हुआ भी यह नहीं है। वर्तमान में जीवित प्रत्येक विचारक या कलाकार आधुनिक नहीं होता। आधुनिक युग के रत्नाकर की दृष्टि आधुनिक नहीं थी, आज के उपन्यासकार गुरुदत्त की विचारधारा और कला आधुनिक नहीं है। इस प्रकार प्रत्ययात्मक अर्थ में 'आधुनिक' समसामयिक से भिन्न एवं विशिष्ट बन जाता है।" (—निबन्ध-विविधा, पृ० 142)

शब्दार्थ —परिबद्ध=बँधा हुआ। संहति=समूह। प्रत्ययात्मक=प्रत्यय के रूप में, विचार विषयक, अवधारणा विषयक। समसामयिक=अपने समय से जुड़ा हुआ, समकालीन।

प्रसंग —डॉ० नगेन्द्र ने अपने निबन्ध 'आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के सन्दर्भ में' में आधुनिकता को **समसामयिकता** से भिन्न रूप में परिभाषित किया है—

व्याख्या —'आधुनिकता' शब्द जब पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है तो समय से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अर्थात् समकालीन होने से कोई साहित्य आधुनिकता-बोध से समृद्ध नहीं हो सकता। इसी आधार पर डॉ० नगेन्द्र ने निरन्तर प्रवहमान, परिवर्तित होते चले जाने वाले और नवीन के प्रति आकर्षण को आधुनिकता की आवश्यक शर्त माना है। इसलिए आधुनिकता की एक विशिष्ट अवधारणा निर्धारित की गयी है, जो समसामयिकता या समकालीनता का पर्याय नहीं है। अपने कथन की पुष्टि करने के लिए कुछ पुरातनवादियों तथा परम्परा-वादियों की तुलना करते हुए आधुनिकों का उल्लेख किया है कि रोम के दार्शनिकों की तुलना में अरस्तू, शंकराचार्य की तुलना में गौतम बुद्ध, सूरदास की तुलना में कबीर को आधुनिक माना है। इस आधुनिकता का सम्बन्ध न तो वर्तमान युग से ही है और न पूर्णतः वर्तमान के विरोध से ही है। वर्तमान से भी जुड़ा रहकर इसका तात्पर्य यही होता है कि नवीन का आकांक्षी ही आधुनिक होता है। अपने इस कथन की पुष्टि लेखक ने रत्नाकर का उदाहरण देकर की है कि वे आधुनिक काल के कवि होते हुए भी आधुनिक नहीं थे। दूसरा उदाहरण उपन्यासकार गुरुदत्त का दिया है, वह भी आधुनिक काल के हैं किन्तु आधुनिक नहीं हैं। इसलिए आधुनिकता की अवधारणा यही है कि इसके लिए आवश्यक नहीं है कि समसामयिक या समकालीन ही हो।

विशेष —(1) आधुनिकता का समसामयिकता से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं माना है।

(2) विवेचनात्मक शैली की आगम पद्धति का रूप द्रष्टव्य है।

(3) उच्च स्तरीय, साहित्यिक गद्यात्मक भाषा का प्रयोग किया गया।

गद्यावतरण (3) —इस प्रकार आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यों के विघटन के फलस्वरूप आधुनिक युग के प्रतिनिधि जिस जीवन-दर्शन का विकास हुआ है, उसको अन्तर्मुख चिन्तकों ने 'अस्तित्ववाद' और बहिर्मुख विचारकों ने निराशा-

वादी वैज्ञानिक मानववाद' कहा है। सामान्य रूप से इस जीवन-दर्शन को ही आधुनिकता के सूत्रबद्ध लक्षण के रूप में स्वीकार किया जा रहा है।"

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 143-144)

शब्दार्थ—सामाजिक मूल्यों = समाज के जीवनादर्श । विघटन = अवमूल्य, बिगड़ाव, ह्रास । अस्तित्ववाद = कामू, सार्त्र और काफका के द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शन । सूत्रबद्ध = सूत्र या सार-संक्षेप में कहे गये वचनों से युक्त ।

प्रसंग—डॉ० नगेन्द्र ने 'आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के सन्दर्भ में' शीर्षक निबंध के अन्तर्गत आधुनिकता-बोध का मुख्य लक्षण स्पष्ट करते हुए अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन से अनुप्राणित प्रत्यय बताया है ।

व्याख्या—डॉ० नगेन्द्र की मान्यता है कि जिस युग में हमारे नैतिक मूल्यों, जीवन के आदर्शों में ह्रास होकर आध्यात्मिक पतन प्रारम्भ हुआ और सामाजिक मान-मर्यादाएँ भी विशृंखलित होने लगीं और उन्हीं के परिणामस्वरूप आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व करने वाले जीवन दर्शन को पाश्चात्य (यूरोप में) देशों में 'अस्तित्ववाद' के नाम से पुकारा । इन अन्तर्मुख चिन्तकों या विचारकों ने जीवन के आदर्शों के ह्रास पर चिन्ता, निराशा व्यक्त की और अस्तित्व के संकट को गहराते देखकर उससे किसी प्रकार निजात पाने का मार्ग खोजने के लिए गहन चिन्तन किया । इसे बहिर्मुख विचारकों ने निराशावाद से प्रेरित वैज्ञानिक मानववाद की संज्ञा प्रदान की । यही जीवन-दर्शन (अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन) ही सामान्यतया आधुनिकता का मूल विचार रहा है और आधुनिकता-बोध इसी अस्तित्ववादी विचारधारा पर टिका हुआ है । इसीलिए आधुनिकता वादियों का मत है कि प्रत्येक पुरातन के जाने पर नवीन युग का सूत्रपात होता है तब फिर हम इस आगत नवीन का स्वागत क्यों न करें ।"

विशेष—(1) डॉ० नगेन्द्र ने आधुनिकता का आधार अस्तित्ववादी जीवन को माना है, जिसमें निराशा चिन्ता, मूल्य-मर्यादाओं के विघटन का अवसाद व्यंजित, होता है ।

(2) विवेचनात्मक शैली का प्रयोग करके लेखक ने स्पष्ट विवेचन कर दिखाया है ।

(3) संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग करके उच्च स्तरीय अभिव्यंजना-कौशल उत्पन्न किया गया है ।

(4) सूत्रात्मक पद्धति के वाक्यों की रचना द्रष्टव्य है ।

गद्यावतरण (4)—कहने का अभिप्राय यह है कि युगबोध को आधुनिकता का लक्षण मानना तो उचित है, किन्तु निराशा और अवसाद को ही आज के युगबोध का लक्षण मान लेना उचित नहीं है । सदा की तरह आज भी निराशा के अन्धकार को चीरकर प्रकट होने वाला आशा का आलोक ही जीवन का लक्षण है । यथार्थबोध की

ऐसी परिभाषा जो जीवन का निषेध करे, अयथार्थ ही मानी जायेगी। इसके अतिरिक्त यथार्थ बोध को सचेतन प्रक्रिया न मानकर एक सहज अप्रत्यक्ष प्रक्रिया मानना ही संगत है—पहली स्थिति में बोध प्रधान हो जाता है और अनुभूति गौण।"

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 146)

शब्दार्थ—युगबोध=अपने युग की अनुभूति का एहसास। अवसाद=दुख! अयथार्थ=जो वास्तविक न हो। सचेतन=सजग, चेतनापूर्ण।

प्रसंग—डॉ० नगेन्द्र ने 'आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के सन्दर्भ में' शीर्षक निबन्ध के अन्तर्गत यथार्थबोध और आधुनिकता का साहित्य में विरोध किया है कि ये विधि मात्र हैं और आधुनिकता को जीवन मूल्य नहीं माना जा सकता।

व्याख्या—युग-बोध को डॉ० नगेन्द्र आधुनिकता का एक लक्षण मानने को तो तैयार हैं किन्तु आज के युग-बोध का एकमात्र यह लक्षण मान लिया जाय कि अवसाद और निराशा ही युगबोध है तो यह अनुचित होगा। कारण यह है कि अवसाद और निराशा ही वह उचित और श्रेयष्कर भाव या विचार नहीं है जो सदा से अच्छा माना गया हो। सदा से तो अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने की उत्कट कामना व्यक्त की जाती रही है। यथार्थ-बोध के नाम पर केवल निराशा, हताशा, घुटन, संत्रस आदि का चित्रण करना यथार्थ न मानकर अयथार्थ माना गया है। इसके अतिरिक्त डॉ० नगेन्द्र यथार्थ-बोध को प्रत्यक्ष और सचेतन क्रिया नहीं मानते अपितु इसे केवल परोक्ष प्रक्रिया के रूप में ही स्वीकार करते हैं। जहाँ बोध की प्रधानता हो जाय और अनुभूति को उतना महत्व दिया जाय, वही अच्छा यथार्थ-बोध माना जा सकता है।

विशेष—(1) डॉ० नगेन्द्र ने अवसाद, वेदना, निराशा आदि को यथार्थ-बोध या युग-बोध का पर्याय मानने से स्पष्ट इन्कार किया हो।

(2) निराशावाद का घोर विरोध व्यक्त किया गया है।

(3) आधुनिकता को भी जीवन मूल्य के रूप में स्वीकृति प्रदान नहीं की गयी है।

गद्यावतरण (5)—"आधुनिक का अर्थ व्यापक और गत्यात्मक ही मानना चाहिए। युग-बोध, परम्परा का संशोधन, जीवन के वैविध्य की स्पृहा, अपने पर्यावरण के माध्यम से आत्मसिद्धि-विकास की आकांक्षा, आदि ही उसके लक्षण हैं— विघटन और प्रगति या निराशा और अवसाद आदि तक ही आज की या किसी भी युग की आधुनिकता को सीमित कर देना यथार्थ-बोध नहीं है। जो जीवन का ही लक्षण नहीं है, वह आधुनिकता का लक्षण कैसे हो सकता है? —(निबन्ध-विविधा, पृ० 14)

शब्दार्थ—गत्यात्मक=गतिशील, प्रगति पर आधारित। परम्परा=पुरातन बातें। स्पृहा=तीव्र इच्छा या होड़। आत्मसिद्धि=अपने को पूर्ण बनाने की साधना।

प्रसंग—डॉ० नगेन्द्र ने 'आधुनिकता का प्रश्न : साहित्य के सन्दर्भ में' शीर्षक निबन्ध के अन्तिम भाग में निराशा, अवसाद आदि का विरोध करते हुए सीमित यथार्थ-बोध को आधुनिकता का पर्याय मानने से इन्कार किया है।

व्याख्या—डॉ० नगेन्द्र की स्पष्ट मान्यता है कि आधुनिकता को व्यापक परिप्रेक्ष्य में ही देखना चाहिए, उसे विघटन, अवसाद, निराशा या प्रगति आदि तक ही सीमित रखना यथार्थ-बोध नहीं माना जा सकता। आधुनिकता की व्यापक परिधि के अन्तर्गत युग-बोध, परम्परावाद का संशोधन करने की तीव्र आकांक्षा, जीवन के विविध रूपों की अवतारणा करने की बलवती आकांक्षा, अपने पर्यावरण में से आत्म के विकास और पूर्णत्व की इच्छा को ही मानना चाहिए। विघटन, केवल प्रगति, निराशा और अवसाद आदि तक ही आधुनिकता को क्षुद्र, संकीर्ण परिधि में घेर देना उचित नहीं है। कारण कि यथार्थ बोध में अवसाद, कुण्ठा या संत्रास आदि की भावनाएँ ही नहीं आतीं, उसमें उत्साह, उल्लास और उमंग भी तो आ सकती है। जब जीवन में आशा-निराशा, सुख-अवसाद की मिली-जुली गंगा-जमुनी स्थित रहती है तो केवल अवसाद, निराशा, घुटन, कुण्ठा ही आधुनिकता का पर्याय कैसे हो सकती है ?

विशेष—(1) आधुनिकता के सीमित अर्थ में अवसाद, विघटन आदि को रखते हुए उसकी व्यापकता का समर्थन किया गया है।

(2) कुण्ठा या अवसाद, निराशा आदि को आधुनिकता का पर्याय मानने से साफ इन्कार किया गया है। □

डा० रामविलास शर्मा

प्रश्न 1—डॉ० रामविलास शर्मा के निबन्धों का परिचय देते हुए बताइए कि हिन्दी निबन्ध-साहित्य के क्षेत्र में उनका क्या स्थान है ?

अथवा

डॉ० रामविलास शर्मा के निबन्धों की विशेषताएँ बताइए और उनके निबन्ध साहित्य का परिचय दीजिए।

अथवा

डॉ० रामविलास शर्मा के निबन्धों की भाषा-शैली विषयक विशेषताएँ बताइए और उनकी निबन्ध-लेखन की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—डॉ० रामविलास शर्मा हिन्दी के प्रगतिशील आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। उन्हें तारसप्तक के एक प्रगतिशील कवि के रूप में भी मान्यता मिली थी। निबन्ध के क्षेत्र में रामविलासजी का प्रदेय यही है कि उन्होंने दो प्रकार के निबन्ध लिखे हैं—एक तो किसी कृति या कृतिकार की समीक्षा करने वाले निबन्ध हैं और दूसरे छोटे-छोटे आकार वाले तीखे, व्यंग्यात्क, स्वतन्त्र विषयों पर लिखे गये उन्मुक्त चिन्तनपरक निबन्ध हैं, जिनमें डॉ० रामविलास शर्मा का

धक्कड़पन उजागर होता है। वे बेलौस होकर अपने 'मन की बात' दो टूक लहजे में कहते जाते हैं—बिना इसकी परवाह किये कि किसको बुरी लगेगी। उनके **निबन्ध-साहित्य के विषय में डॉ० जयचन्द्र राय ने** निम्न विचार व्यक्त किये हैं—

"प्रगतिवादी आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा के अधिकांश निबन्ध आलोचनात्मक ही हैं। उनमें दो टूक बात कहने की प्रवृत्ति है, और इसीलिए निष्कर्ष तथा निर्णय पर पहुँचने की जल्दी और बेचैनी ! व्यंग्य का प्रयोग वे तीक्ष्ण शस्त्र की भाँति करते हैं। प्रतिपक्ष को पराजित करने में इस शस्त्र का प्रयोग वे कारगर ढंग से करते हैं। उनकी विचार-प्रक्रिया सरल और स्पष्ट है, भाषा तदनुकूल सभी प्रकार के चलते शब्दों से सम्पन्न।" —(हिन्दी वाङ्मय : बीसवीं शती, पृ० 343)

डॉ० रामविलास शर्मा ने भाषा, साहित्य, संस्कृति और समाज तथा जीवन से अपने निबन्धों के विषयों का चयन किया है।

डॉ० रामविलास शर्मा का रचना-संसार बड़ा वैविध्यमय है। आपने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, निराला की साहित्य-साधना (तीन खण्डों में प्रकाशित), भारतेन्दु और उनका युग, प्रेमचन्द और उनका युग, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसीदास आदि आलोचनात्मक कृतियों से लेकर भाषा-विज्ञान की अनेक पुस्तकों की रचना की है। इधर मार्क्स और पिछड़े हुए समाज, भारत में अँग्रेजी राज और मार्क्सवाद (दो भागों में) और परम्परा का मूल्यांकन जैसी प्रगतिशील सामाजिक चेतना से परिपूर्ण कृतियाँ प्रकाश में आयी हैं। भारत की भाषा-समस्या, भाषा और समाज से लेकर भारत के प्राचीन भाषा-परिवार और हिन्दी (तीन भागों में बड़े-बड़े ग्रन्थ) प्रकाशित कराकर उन्होंने अपने भाषाविद् रूप का लोहा मनवा लिया है। आपने बलवन्त राजपूत कालिज के अंग्रेजी विभागाध्यक्ष के पद से अवकाश पाने के बाद जो पुस्तकें लिखी हैं उन्हें देखकर आश्चर्य होता है कि इतने बड़े-बड़े पोथे वे हर वर्ष लिखते चले जा रहे हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण तथा नयी कविता और अस्तित्ववाद ही उनके आलोचक रूप की धाक जमाने के लिए पर्याप्त थीं। रामविलासजी की अधिकांश रचनाएँ (आलोचनात्मक कृतियाँ) राजकमल प्रकाशन (दिल्ली) से प्रकाशित होती रही हैं। हाँ, उनके निबन्ध-संग्रह अवश्य अलग-अलग प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित किये गये थे। इधर वाणी प्रकाशन से मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, भाषा युग-बोध और कविता, मानव सभ्यता का विकास, बड़े भाई तथा कथा-विवेचन और गद्य-शिल्प आदि पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी जाति का साहित्य तथा मार्क्स, त्रोत्सकी और एशियाई समाज—दो पुस्तकें भी पिछले वर्ष ही वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हुई हैं।

डॉ० रामविलास शर्मा के निबन्ध-संग्रहों में 'प्रगति और परम्परा' (1948), संस्कृति और साहित्य (1949), भाषा, साहित्य और संस्कृति (1954), प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ (1954), लोक जीवन और साहित्य (1955), स्वाधीनता

और राष्ट्रीय साहित्य (1956), आस्था और सौन्दर्य (1956) तथा विराम-चिह्न (1957) प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। विराम-चिह्न तो नयी साज-सज्जा के साथ वाणी प्रकाशन, दिल्ली से अभी प्रकाशित हुआ है।

डॉ० रामविलास शर्मा के निबन्धों की डॉ० रनसिंह चौहान ने निम्न तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं—

(1) **कृति सम्बन्धी निबन्ध**—यथा—अंग्रेजी कवि कीट्स की हाइपीरियन, यशपाल की देशद्रोही की आलोचना।

(2) **कृतिकार सम्बन्धी निबन्ध**—यथा—तुलसी, भूषण, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, निराला, महावीरप्रसाद द्विवेदी की आलोचनाएँ।

(3) **साहित्य-प्रवृत्ति विषयक**—यथा—छायावाद की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि, नई हिन्दी कविता पर आक्षेप, आधुनिक हिन्दी कविता, उर्दू साहित्य की सांस्कृतिक परम्परा आदि। —(निबन्ध मणि, पृ० 34-35)

इन तीनों प्रकार के निबन्धों के विषय में डॉ० रनसिंह चौहान ने निम्न टिप्पणियाँ की हैं।

कृति सम्बन्धी साहित्यिक निबन्धों के विषय में डॉ० चौहान का निम्न मत द्रष्टव्य है—

"इस प्रकार के समीक्षात्मक निबन्धों में शर्माजी के अध्ययन की विविधता और व्यापकता, विषय की पैनी पकड़, विचारों की विशदता, तन्मयता और सहजता दृष्टव्य है। इन समीक्षाओं में 'रचना' को प्रभावित करने वाले रचनाकार के जीवन-सन्दर्भों के उल्लेख के साथ-साथ उस विशिष्ट कृति को प्रभावित करने वाले अन्य भारतीय अथवा पाश्चात्य चिन्तकों के विचारों को भी उजागर किया गया है। कृतियों की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करने में आपको उल्लेखनीय सफलता मिली है। × × × इस सन्दर्भ में यशपाल के 'देशद्रोही' उपन्यास की समीक्षा दर्शनीय है। समीक्षा करते समय आप कृति और कृतिकार से संवेदनात्मक तादात्म्य स्थापित करने में सफल हुए हैं। रूप-विन्यास की दृष्टि से इन निबन्धों की समीक्षा शैली में कहीं-कहीं आक्रोश और व्यंग्य होने पर भी प्रायः आपका वस्तुपरक तटस्थ दृष्टिकोण ही लक्षित होता है।" —(निबन्ध मणि, पृ० 35)

साहित्यकारों विषयक दूसरे वर्ग के निबन्धों के विषय में भी डॉ० चौहान के निम्न वाक्य पर्याप्त गम्भीर अध्ययन का परिचय देते हैं—

"इन निबन्धों में भी आप जनवादी—मार्क्सवादी दृष्टिकोण को ही लेकर चले हैं। कहीं सामन्तवादी विचारधारा की भर्त्सना की है, तो कहीं पूँजीवादी तत्वों का अन्वेषण-विश्लेषण किया है।"

तीसरे वर्ग के निबन्धों में छायावाद के प्रति आकर्षण व्यक्त करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा का निम्न कथन उद्धरणीय प्रतीत होता है—

"इसी प्रकार उसे पलायनवादी, प्रतिक्रियावादी, कहकर लांछित करना सरासर अन्याय है। उसमें पराजय और पलायन की भावना है, तो विद्रोह, विनय, मानव के प्रति सहानुभूति के स्वर भी हैं।" —(आस्था और सौन्दर्य, पृ० 256)

इसी क्रम में नयी कविता की पृष्ठभूमि के विषय में डा० शर्मा का निम्न कथन प्रस्तुत किया गया है—

"आलोचना का कोलाहल शान्त होने पर नयी कविता के कर्दम पर यथार्थवाद की निर्मल धारा बहती दिखायी देगी।"

—(आस्था और सौन्दर्य, पृ० 132)

इसी प्रकार प्रयोगवादी साहित्य के प्रति अविश्वास व्यक्त करते हुए डॉ० शर्मा अपना निर्भ्रान्त मत उपस्थित करते हैं—

"समाजवाद का विरोध करने के लिए राष्ट्रीय नवनिर्माण में आस्था कुण्ठित करने के लिए धुरीहीन प्रयोगवादी जन-जीवन और सांस्कृतिक परम्परा से बिछुड़कर कटी हुई पतंग की तरह व्यक्ति की निरपेक्ष स्वाधीनता के आकाश में उड़ रहे हैं। अतः प्रयोगवादी कवियों को अपना भविष्य अन्धकारमय दिखायी दे, तो आश्चर्य ही क्या ?" —(आस्था और सौन्दर्य, पृ० 132)

तीसरे वर्ग के निबंधों के विषय में डॉ० चौहान की एक संक्षिप्त टिप्पणी द्रष्टव्य है—

"डॉ० शर्मा के सामाजिक, सांस्कृतिक और व्यावहारिक निबन्धों में 'संस्कृति व स्वाधीनता और साहित्य', 'संस्कृति तथा फासिज्म', 'जनहत्या और संस्कृति', 'लक्ष्मीवाहन का दिव्य रूप, 'तीन लोक से मथुरा न्यारी', 'प्रेमचन्द की दसवीं वर्षी' आदि प्रमुख निबन्ध आते हैं। समाजपरक निबन्धों में शर्माजी का प्रगतिवादी जीवन दृष्टि वाला व्यक्तित्व उभरकर सामने आया है।" —(निबन्ध मणि, पृ० 36)

'विराम-चिह्न' नामक संग्रह के निबन्धों में बहुत छोटे-छोटे आकार के लघु निबन्धों (लेखों) का शिल्प प्रयुक्त हुआ है। इस संग्रह के विषय में डॉ० चौहान की समीक्षात्मक टिप्पणी इस प्रकार की गयी है—

"विराम चिह्न संकलन के अनेकों निबन्धों में लघु निबन्ध-लेखक की कला का चरमोत्कर्ष देखा जा सकता है। शर्माजी के इन विचारात्मक निबन्धों में प्रायः सर्वत्र जनवादी तथा मार्क्सवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ व्यंग्य-विनोद और शिष्ट एवं रोचक हास्य की आभा भी दर्शनीय है।" —(निबन्ध मणि, पृ० 37)

निबन्धों की भाषा—डॉ० रामविलास शर्मा के निबन्धों की भाषा का सबसे बड़ा गुण है—सहजता एवं अकृत्रिमता। वे जनसाधारण की बोलचाल के स्तर पर प्रयुक्त किये जाने वाले भाषा रूप का ही सर्वत्र प्रयोग करते हैं। इसी आधार पर उनकी

भाषा में **प्रसाद गुण सम्पन्नता** दृष्टिगोचर होती है। 'सौन्दर्य की उपयोगिता' नामक निबन्ध से एक उदाहरण देकर प्रस्तुत कथन की पुष्टि की जा सकती है—

"सुखी जीवन के लिए आवश्यक है कि हम जो काम करें, वह सुन्दर हो और उससे हमें आनन्द मिले। लेकिन जब से आदम ने हव्वा की बात मानकर अल्ला मियाँ की आज्ञा का उल्लंघन किया, तब से मनुष्य को यह शाप मिला कि उसका कर्ममय जीवन दुख का जीवन हो। दूसरे शब्दों में जब से व्यक्तिगत सम्पत्ति का जन्म हुआ, समाज में वर्ग बने, कुछ का कर्त्तव्य मेहनत करना हुआ और कुछ का कर्त्तव्य उनकी रक्षा करना और उन्हें ज्ञान देना हुआ, तब से सुन्दरता पर इजारा हो गया, उनका जो केवल राज करते थे, केवल ज्ञान देते थे, पेट भरने और तन ढँकने के साधन पैदा करना, जिनका काम न था।"

यहाँ अल्ला मियाँ, मेहनत, इजारा आदि शब्द उर्दू के हैं और शेष शब्द भी सरल हिन्दी के शब्द हैं। कहीं भी अर्थ की जटिलता, दुरूहता नहीं आ पायी है।

डॉ० रामविलास शर्मा की निबन्ध-भाषा की यह विशेषता भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने कहीं **संस्कृत तत्सम** शब्दों का भी प्रयोग किया है, तो भी अस्पष्टता या क्लिष्टता का अनुभव नहीं हो पाता है। यथा—

"रीतिकालीन साहित्यशास्त्रियों ने रस को काव्य की आत्मा कहा और उसे आनन्द रूप बताया। काव्य के आनन्द को उन्होंने शाश्वत आनन्द रूप आत्मा से भी जोड़ दिया। लेकिन उनके आलम्बन और उद्दीपन, उनका नायिकामय संसार देखकर कहना पड़ेगा - 'देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे।'

—('सौन्दर्य की उपयोगिता' नामक निबन्ध से)

कहना न होगा कि संस्कृत की **पारिभाषिक** शब्दावली का प्रयोग होने पर भी भाषागत सरलता **सर्वत्र विद्यमान** है।

निबन्ध शैली—डॉ० रामविलास शर्मा के निबन्धों में प्रायः **विवेचनात्मक शैली** का ही प्रयोग किया गया रहता है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

"जो मनुष्य अवकाशभोगी नहीं है, दूसरों की मेहनत पर नहीं जीता वरन् अपनी मेहनत पर खुद जीता और दूसरों को जिलाता है, उसके लिए **सौन्दर्य** कर्ममय जीवन से बाहर नहीं होता। स्वस्थ मनुष्य भोजन से तृप्त होता है, लेकिन केवल स्वाद के लिए भोजन करना अस्वस्थ आदमी का काम है।"

—('सौन्दर्य की उपयोगिता' नामक निबन्ध से)

कथात्मक शैली—डॉ० शर्मा ने अपने निबन्धों के बीच-बीच में कथ्य को रोचक और सरल बनाने के लिए दृष्टान्तों की तरह कुछ प्रसंगों की अवतारणा की है। इसी निबन्ध से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"दुष्यन्त ने शकुन्तला को देखा। वह उसे सुन्दर लगी। शकुन्तला के साथ बड़ा अन्याय होगा, अगर हम कहें कि सौन्दर्य शकुन्तला में न था, वरन् दुष्यन्त में था।××××"

"गोस्वामी तुलसीदास ने गुरु से राम-कथा सुनी, तब अचेत रहने के कारण उनकी समझ में कम आयी।" —('सौन्दर्य की उपयोगिता' नामक निबन्ध से)

उद्धरणात्मक शैली—वाक्यों में अनेक काव्यांशों या श्लोक, लोकोक्तियों आदि को प्रयुक्त करते हुए डॉ० शर्मा जब उद्धरणात्मक वाक्य बनाते हैं तो शैली का रूप उद्धरणात्मक हो जाता है। यथा—

"भक्त कवियों का मूलमंत्र था—'जाति पाँति पूछे नहिं कोई' हरि को भजै सो हरि का होई।' तुलसीदास इस मंत्र को सिद्ध करने वालों की चर्चा बार-बार करते हैं। वह वाल्मीकि का हवाला देते हैं जो मरा-मरा कहकर भी मुनि हो गये—'जहाँ वाल्मीकि भये ब्याध ते मुनीन्द्र साधु, मरा-मरा जपे सिय ऋषि सात की। और भी....'" —('तुलसी साहित्य के सामन्त-विरोधी मूल' नामक निबन्ध से)

इसी प्रकार व्यंग्यात्मक शैली का भी पदे-पदे प्रयोग डॉ० शर्मा के निबन्धों में मिलता है। कुल मिलाकर डॉ० शर्मा एक सफल शैलीकार हैं।

तुलसी-साहित्य के सामन्त-विरोधी मूल्य

व्याख्यायें

गद्यावतरण (i)—"सन्त साहित्य का प्रसार भारतीय-संस्कृति के इतिहास में एक अनूठी घटना थी, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता। अचानक संस्कृत का प्रभुत्व, जो सैकड़ों साल से चला आ रहा था, खत्म होता दिखायी दिया। जनता की संस्कृति, जिसे पुरोहितों ने अब तक दबाया था, पुष्पित और पल्लवित होने लगी। जो लोग खुलकर पुरोहितों के खिलाफ एक शब्द न कह सकते थे, अब खुलेआम उन्हें चुनौती देने लगे।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 149-50)

शब्दार्थ—प्रसार=फैलाव, विस्तार। प्रभुत्व=स्वामित्व, प्रभाव। पुष्पित=फूल लगने लगे। पल्लवित=पत्ते लगने लगे।

प्रसंग—डॉ० रामविलास शर्मा अपने निबन्ध 'तुलसी-साहित्य के सामन्त-विरोधी मूल्य' के प्रारम्भ में सोलहवीं शती के भक्ति आन्दोलन की महत्ता को स्पष्ट करते हैं और सन्त साहित्य को एक क्रान्तिकारी आन्दोलन मानते हैं—

व्याख्या—डॉ० रामविलास शर्मा की दृष्टि में सोलहवीं शती में होने वाले सन्त-साहित्य के आन्दोलन को भारतीय संस्कृति की अनूठी घटना माना गया है क्योंकि सैकड़ों वर्ष से चली आने वाली परम्परा के प्रति विद्रोह किया गया और संस्कृत का प्रभाव इस आन्दोलन द्वारा समाप्त हो गया। संस्कृत का प्रभुत्व समाप्त करके सन्त-साहित्य ने लोक-भाषा की प्रतिष्ठापना की। पुरोहितों, पण्डों और धर्मध्वजों द्वारा जो जन-संस्कृति अब तक दबायी जाती रही थी, वह भक्ति आन्दोलन के रूप में विकसित हुई। इन पुरोहितों के विरुद्ध जो लोग एक शब्द नहीं बोल पाते थे, वे अब पण्डितों के कठमुल्लेपन और बाह्याचार प्रदर्शन पर करारा प्रहार करने लगे। पुरोहितों के द्वारा, जो भगवान् के ठेकेदार बने फिरते थे, जो शोषण किया जाता

रहा था, उसे पहली बार नकारा गया। सन्त-साहित्य की आँधी वास्तव में एक प्रबल और शक्तिशाली विद्रोह के रूप में उत्तर भारत में फैली थी।

विशेष—(1) सन्त साहित्य के आन्दोलन की तीव्रता और उसके सशक्त प्रभाव की चर्चा की गयी है और सामाजिक क्रान्ति के रूप में उसकी महत्ता को स्वीकार किया गया है।

(2) इनकार, खत्म, खिलाफ, खुलेआम, चुनौती आदि उर्दू के शब्दों का निःसंकोच प्रयोग करके भाषा को सरल, सुबोध स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया है।

(3) दूसरी ओर प्रसार, संस्कृति, प्रभुत्व, पुष्पित, पल्लवित आदि संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग द्रष्टव्य है।

गद्यावतरण (2)—"इसलिए जब उत्तरकाण्ड में हम तुलसी को इस बात पर शोक प्रकट करते देखते हैं कि शूद्र ब्राह्मणों की बराबरी करने लगे हैं, तब हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि या तो उनके विचारों में अन्तर्विरोध है या फिर यह पुरोहितों का चमत्कार है, जिन्होंने अपने काम की बातें मिलाकर रामचरितमानस को अपने अनुकूल बनाने की कोशिश की। यह काम उनके लिए कुछ नया भी न था; वह और भी ग्रन्थों के साथ यह काण्ड कर चुके थे। तुलसी की भक्ति पुरोहितों का इज़ारा तोड़ने वाली थी। वह आभीर, जवन, किरात, खस, स्वपचादि सभी को गले लगाती थी, केवट और निषाद जैसे वर्णाधमों पर उनका स्नेह और भी ज्यादा था।"

—(निबन्ध विविधा, पृ० 155)

शब्दार्थ—अन्तर्विरोध=परस्पर विरोध, भीतर का विरोध। काण्ड=अघटित घटना। इजारा=कर्ज, ऋण। आभीर=अहीर। जवन=यवन। स्वपच=मेहतर, भंगी। वर्णाधमों=अधम या नीच वर्ण वाले, नीची जातियों के लोग।

प्रसंग—डॉ० रामविलास शर्मा ने तुलसी के काव्य में जातिगत ऊँच-नीच के भेद को समाप्त करने वाली प्रवृत्ति के दर्शन किये हैं और शूद्रों के विरोध वाली उक्तियों को या तो अन्तर्विरोधी माना है या यह सम्भावना व्यक्त की है कि वे पंक्तियाँ तुलसी की न होकर पुरोहितों ने क्षेपक के रूप में जोड़ी हैं अर्थात् प्रक्षिप्त हैं—

व्याख्या—तुलसी जब चारों वर्णों को एक ही राजघाट पर स्नान करते दिखाते हैं तो वे उत्तरकाण्ड में शूद्रों को ब्राह्मणों की बराबरी करने पर क्षोभ क्यों व्यक्त करते। डॉ० रामविलास शर्मा की मान्यता है कि या तो तुलसी दोनों स्थानों पर परस्पर विरोधी बातें करते हैं, नहीं तो यह पुरोहितों का, ब्राह्मणों का चमत्कार है कि उन्होंने रामचरितमानस में ऐसी अर्द्धाली जोड़ दी हो, जिसमें शूद्रों के द्वारा ब्राह्मणों की बराबरी करने पर क्षोभ व्यक्त किया गया हो। अपने अनुकूल लगने वाली बातें पुरोहितों ने अन्य कृतियों में भी जोड़ी थीं, इसलिए मानस में यदि ऐसी अर्द्धाली

बढ़ा दी गयी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। तुलसी की गीता के विषय में डॉ० रामविलास शर्मा का स्पष्ट मत है कि वह तो पुरोहितों के आधिपत्य को, उनके वर्चस्व को समाप्त करने वाली थी। उसमें समान रूप से अहीरों, यवनों, किरातों, मेहतरों और कसाइयों के लिए प्रेम व्यक्त होता था। इस तुलसी की भक्ति में केवट और निषाद जैसी अधम जातियों के गुह-निषाद जैसे लोगों पर राम का अपना स्नेह प्रकट किया गया था, तब फिर तुलसी से यह उम्मीद कैसे की जा सकती है कि वे शूद्रों के विरोध में अपना क्षोभ व्यक्त करेंगे।

विशेष—(1) तुलसी की भक्ति की विशेषता है—सभी वर्णों के लोगों को समान मानना और नीच जाति के लोगों को अधिक प्रेम करना।

(2) एक ओर अन्तर्विरोध, काण्ड, चमत्कार, वर्णाधमों आदि संस्कृत के तत्सम, संधिज शब्दों का प्रयोग किया गया है, तो दूसरी ओर नतीजे, कोशिश, इजारा, ज्यादा आदि उर्दू के शब्दों का भी वे निःसंकोच प्रयोग करते हैं।

गद्यावतरण (3)—"तुलसी ने जनसाधारण के सौन्दर्य-बोध की जैसी सुकुमार व्यंजना की है, वह हिन्दी साहित्य में अनुपम है। वर्तमान अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था में मनुष्य की प्रेम और सौन्दर्य की कोमल भावनाएँ बुरी तरह कुचली जाती हैं। विवाह का आधार है सम्पत्ति और कुलीनता; प्रेम करने के लिए प्रेयसी अलग होती है, बच्चे पैदा करने के लिए पत्नी अलग। सामन्ती बन्धनों के खत्म होने पर सौन्दर्य और प्रेम की भावनाएँ अपने सहज रूप में पल्लवित होंगी और नारी कवियों की नायिका मात्र न रह जायेगी। वह श्रम करने वाली, समान अधिकार वाली नागरिक भी होगी।"

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 159)

शब्दार्थ—अर्द्ध-सामन्ती=छोटे-छोटे जमींदारों, ताल्लुकेदारों के जमाने में। कोमल भावनाएँ=तरल भाव। पल्लवित=फैलेंगी, फूलेंगी। नायिका=केवल कल्पना की या शृंगारिक अश्लीलता की विषय-वस्तु।

प्रसंग—डॉ० रामविलास शर्मा ने 'तुलसी-साहित्य के सामन्त-विरोधी मूल्य' नामक निबन्ध में तुलसी को भक्ति के कवि के साथ ही प्रेम और सौन्दर्य का कवि भी माना है। सीता के विवाह-मण्डप में बैठ रहने के सौन्दर्य का हवाला देकर भी लेखक ने उनकी नारी भावना की प्रशंसा में सामन्त-विरोधी मान्यताएँ स्पष्ट की हैं—

व्याख्या—डॉ० रामविलास शर्मा ने तुलसी के साहित्य की इस आधार पर भूरि-भूरि प्रशंसा की है कि तुलसी जनसाधारण के सहज प्रेम और सौन्दर्य की ऐसी कोमल अभिव्यक्ति करते हैं कि हिन्दी साहित्य में ऐसे प्रेम और सहज सौन्दर्य के चित्र अन्यत्र कम ही मिलेंगे। उन्होंने अपने समय में विद्यमान अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था का हवाला दिया है कि आज जब छोटे-छोटे जमींदार, ताल्लुकेदार पैदा हो रहे हैं, वे नारी के साथ खिलवाड़ करते हैं कि घर में एक पत्नी तो बच्चे पैदा करने के लिए

रखेंगे और ऐश-मौज करने के लिए प्रेयसी अलग रखेंगे। उनके जीवन में प्रेम और सौन्दर्य का मज़ाक उड़ाया जाता है। प्रेम तो मखौल बनकर रह जाता है अर्थात् वह भोग-विलास की वस्तु या अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाता है। सम्पत्तिवान और कुलीन व्यक्ति को तो कई विवाह तक करने का अधिकार है, किन्तु निर्धन और गरीब लोग हृदय की इस प्रेम नामक पवित्र भावना को व्यक्त तक न कर सकते हैं, तब नर-नारी सम्बन्धों का इस अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था में कैसा क्रूर मज़ाक उड़ाया जाता है। लेखक मानता है कि जिस दिन यह अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था भंग होगी तो जनसाधारण के हृदय की प्रेम-भावना का, उसकी उदात्तता का सहज प्रसार होगा और नारी फिर केवल भोग-विलास की वस्तु न रहकर श्रमिक और समान अधिकार वाली नागरिक बन सकेगी।

विशेष—(1) तुलसी के काव्य में साधारण नारियों (ग्राम वधूटियों) के चित्रण के लिए लेखक ने प्रशंसा की है और सरल, सहज प्रेम का चित्रण किया है।

(2) नारी के समान अधिकारों की वकालत की गयी है।

(3) विवेचनात्मक शैली का प्रयोग द्रष्टव्य है।

गद्यावतरण (4)—"लेकिन तुलसी साहित्य का मूल्य इससे अधिक है। तुलसी की भक्ति मानववाद में डूबी हुई है। यह कवि मनुष्य का सबसे बड़ा उपासक है। तुलसी ने प्राचीन महाकाव्यों की मानववादी परम्परा को आगे बढ़ाया है—"न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्" पर रामचरितमानस मानो सजीव भाष्य है। अनेक बार तुलसी ने भक्त को भगवान् से बड़ा बतलाया है, इससे अधिक मानव-प्रेम का प्रमाण क्या दे सकते थे।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 161)

शब्दार्थ—मूल्य=जीवन-मूल्य, आदर्श की स्थापना। मानववाद=मानवता को ऊँचा मानना। भाष्य=किसी की विस्तार के साथ टीका, व्याख्या करना।

प्रसंग—डॉ० रामविलास शर्मा ने 'तुलसी साहित्य के सामन्त-विरोधी मूल्य' नामक निबन्ध के अन्तिम भाग में बहुदेववाद के द्वारा विविध सम्प्रदायों में परस्पर सद्भाव उत्पन्न करने वाले तुलसी की प्रशंसा की है और उससे भी अधिक उनकी महत्ता का प्रतिपादन इस आधार पर किया है कि तुलसी ने मानव मात्र के प्रति सात्विक प्रेम की व्यंजना की है—

व्याख्या—डॉ० रामविलास शर्मा ने तुलसी की भक्ति को इसलिए अधिक मूल्यवान ठहराया है कि उसमें एक साधारण मानव के प्रति प्रेम की भावना को आश्रय दिया गया है। मनुष्यता का सबसे बड़ा उपासक बताकर डॉ० शर्मा ने तुलसी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। तुलसी को प्राचीन महाकाव्यों की परम्परा का पोषक बताते हुए वाल्मीकि के 'मनुष्यों से तनिक भी श्रेष्ठ कोई नहीं होता' जैसे आधार वाक्य का हवाला देकर मानस को इस मानवतावाद की विशद व्याख्या करने वाला काव्य-ग्रन्थ कहकर पुकारा है। तुलसीदास ने अनेक स्थानों पर भगवान् की तुलना

में भी उसके जनसाधारण भक्तों को बड़ा मानने के पीछे यही मानववादी भावना का पोषण किया है। मानव प्रेम का यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि निरीह, अकिंचन भक्तों को भगवान से भी बड़ा बताया गया है। तुलसी की भक्ति भावना में यह लघु मानव इतना उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया है। अतः तुलसी की भक्ति मानववाद की पोषक है।

विशेष—(1) डॉ० रामविलास शर्मा जनवादी विचारक होने के आधार पर तुलसी की प्रशंसा करते हैं कि वे मानववादी कवि थे।

(2) तुलसी की भक्ति-भावना में उपेक्षित, दीन, दरिद्र, नीच वर्ण के लोगों की महान् भावना ही जनवादी मूल्य माना गया है।

(3) तुलसी की भक्ति की जनवादी दृष्टि से व्याख्या की गयी है।

(4) विवेचनात्मक शैली का प्रयोग द्रष्टव्य है।

(5) भाषा उच्च स्तरीय, परिष्कृत और प्रांजल बन पड़ी है।

गद्यावतरण (5)—"तुलसी हमारे जातीय जनजागरण के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी कविता की आधारशिला जनता की एकता है। मिथिला से लेकर अवध और ब्रज तक चार सौ साल से तुलसी की सरस वाणी नगरों और गाँवों में गूँजती रही है। हमारी जातीय एकता और उसके पुनर्जीवन का काम अभी अधूरा है। साम्राज्यवादी, सामन्ती अवशेष और बड़े पूँजीपतियों के शोषण से हिन्दी-भाषी जनता को मुक्त करके उसकी जातीय संस्कृति को विकसित करना है। हमारे जातीय संगठन के मार्ग में साम्प्रदायिकता, ऊँच-नीच के भेद-भाव, नारी के प्रति सामन्ती शासक का रुख आदि अनेक बाधाएँ हैं। तुलसी का साहित्य हमें इनसे संघर्ष करना सिखाता है। तुलसी का मूल सन्देश है—मानव प्रेम। मानव प्रेम को सक्रिय रूप देना, सहानुभूति को व्यवहार में परिणत करके जनता के मुक्ति-संघर्ष में योग देना हमारा कर्त्तव्य है।"

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 167)

शब्दार्थ—जातीय=भारतीय आर्य जाति के, राष्ट्रीय। जनजागरण=जनता जनार्दन में वैचारिक चेतना फूँकने वाले। पुनर्जीवन=पुनः स्थापित करना, पुनः जीवन देना। साम्राज्यवादी=उपनिवेशवादी। जातीय संस्कृति=राष्ट्रीय; समूची आर्य जाति की। मुक्ति-संघर्ष=सामन्तवादी और पूँजीवादी व्यवस्था से मुक्ति पाने हेतु किया जाने वाला संघर्ष। योग देना=उसमें सहयोग करना, हाथ बँटाना।

प्रसंग—डॉ० रामविलास शर्मा ने 'तुलसी-साहित्य के सामन्त-विरोधी मूल्य' नामक निबन्ध के अन्त में तुलसी के ब्रह्मवाद, बहुदेवोपासना, स्वान्तरशान्तये जैसी प्रवृत्तियों को आवरण बताते हुए तुलसी की भक्ति के भीतर निहित सामाजिक तत्व को बहुत मूल्यवान माना है। उसी क्रम में वे तुलसी साहित्य में सम्प्रदायवाद,

जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष के बीज-बिन्दुओं के लिए तुलसी की प्रशंसा करते हैं और उन्हें मानव मात्र के प्रति प्रेम करने के लिए महान् मानते हैं—

व्याख्या—डॉ० रामविलास शर्मा की मान्यता है कि तुलसी हमारी भारतीय जनता के हृदय में जागरण की ज्योति जगाने वाले कवि हैं। तुलसी ने हमारी भारतीय जनता के अभ्युत्थान के लिए उनमें व्याप्त कुरीतियों को समाप्त करने का सत्प्रयास किया है। सबसे प्रमुख बात यह है कि उन्होंने भारतीय जनता में समानता, एकता के विचार फूंके हैं। यही कारण है कि चार-सौ वर्षों से निरन्तर तुलसी का काव्य मिथिला प्रदेश से लेकर ब्रज प्रदेश तक फैले व्यापक हिन्दी-भाषी क्षेत्र की जनता का कण्ठहार बना हुआ है। तुलसी ने ग्राम्य जीवन और नागरिक जीवन में समान पैठ की हुई है, उनकी सरस वाणी का व्यापक प्रचार-प्रसार ही इस बात का प्रमाण है कि हमारे देश की जनता ने उनकी मानववादी प्रवृत्तियों और मानव मात्र के लिए प्रेम के सन्देश से गहरे तक प्रेरणा प्राप्त की है।

डॉ० रामविलास शर्मा ने हमारे समाज की अभावमयी स्थिति का बोध कराया है कि दुर्भाग्य से हमारी जातीय एकता का काम अभी अधूरा पड़ा है क्योंकि हम समस्त भारतवासी अपने को समान स्तर पर, ऐक्य का अनुपात करते हुए आर्यजन नहीं कह पाते। इसी जातीय एकता का अभाव अभी पूरा करना है। हमारे भारत में साम्राज्यवादी ताकतों ने, सामन्तवादी शक्तियों ने और पूँजीवाद ने जो जनसाधारण का शोषण किया, उसका प्रभाव अभी भी चला आ रहा है। इस शोषण से जनसाधारण जिस दिन मुक्त हो जायगा तभी जातीय संस्कृति का विकास हो पायेगा।

इस जातीय संगठन में डॉ० शर्मा ने सम्प्रदायवाद, जातिगत भेद-भाव, ऊँचनीच की भावना और नारी के प्रति सामन्ती शासकों का शोषण करने वाला दृष्टिकोण आदि अनेक बाधाएँ मानीं हैं। तुलसी का इसीलिए रामविलासजी ने महत्व माना है कि तुलसी ने सम्प्रदायवाद, जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष करने का पाठ पढ़ाया है। वे मानव मात्र में परस्पर प्रेम-भाव का सन्देश देते हैं। इसी सन्देश से समस्त भारतवासी चाहे अमीर हों, या गरीब हों, ऊँची जाति के हों अथवा शूद्र जाति के, किसी धर्म या सम्प्रदाय के मानने वाले हों, वे सभी भारतीय हैं और उनमें परस्पर प्रेम-भाव विद्यमान रहना चाहिए। इसी प्रसंग में डॉ० शर्मा अपने पाठकों को यह उपदेश करते हैं कि मानव-प्रेम को सक्रिय बनाना, परस्पर दीनों, गरीबों, शोषितों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना और जनता के शोषण से मुक्ति प्राप्त करने के प्रयासों को पुष्ट करना ही हम सब का पुनीत कर्त्तव्य है।

विशेष—(1) तुलसी के साहित्य में जनता की एकता, मानव-प्रेम आदि के कारण उसकी प्रशंसा करके रामविलासजी ने अपने जनवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

(2) तुलसीदास को जनवादी कवि के रूप में देखा गया है।

(3) विवेचनात्मक शैली का प्रयोग करके सामाजिक विश्लेषण किया गया है।

(4) भाषा उच्च स्तरीय, परिस्कृत, प्रांजल और साहित्यिक बन पड़ी है।

(5) रामविलासजी की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह कृत्रिम न होकर सहज है। □

पं० विद्यानिवास मिश्र

प्रश्न 1—पं० विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों का परिचय देते हुए बताइए कि हिन्दी निबन्ध-साहित्य के लिए उनका क्या योगदान है ?

अथवा

हिन्दी निबन्ध जगत् में पं० विद्यानिवास मिश्र का स्थान निर्धारित कीजिए।

अथवा

पं० विद्यानिवास के निबन्धों की विशेषताएँ बताइए और उनकी भाषा-शैली विषयक उपलब्धियों पर भी प्रकाश डालिए।

उत्तर—पं० विद्यानिवास मिश्र ने हिन्दी निबन्ध के विशेष प्रकार—व्यक्ति-व्यंजक या ललित निबन्ध के क्षेत्र में अपना बहुत महत्वपूर्ण स्थान अर्जित किया है। उन्होंने ललित निबन्ध लेखन में पं० बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, प्रतापनारायण मिश्र, सरदार पूर्णसिंह, डॉ० गुलाबराय, हजारीप्रसाद द्विवेदी की परम्परा को आगे बढ़ाया है। सही अर्थों में देखा जाए तो पं० विद्यानिवास मिश्र ने अधिकांश ललित निबन्धों की ही रचना की है। उन्होंने 'परम्परा बन्धन नहीं' नामक निबन्ध-संग्रह में अवश्य ही विद्या-प्रधान निबन्ध लिखे हैं। किन्तु उनके अन्य निबन्ध-संग्रहों में ललित निबन्ध ही हैं। उनके निबन्ध-साहित्य की उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए डॉ० जयचन्द्र राय ने निम्न मत व्यक्त किया है—

"श्री विद्यानिवास मिश्र ने निबन्ध को ही अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम मान लिया है। उनका निर्बन्ध चिन्तन व्यक्तिव्यंजक निबन्धों में प्रकट हुआ है जो 'चितवन की छाँह', 'तुम चन्दन हम पानी', 'आँगन का पंछी' और 'बनजारा मन' आदि संकलनों में उपलब्ध है। मिश्रजी मूलतः संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्येता हैं, किन्तु लोक-जीवन और ग्रामीण समाज से उनका गहरा तथा व्यापक सम्पर्क है। फलतः उनके लेखन में शास्त्र-सम्पदा और लोक-संस्कृति एवं लोकाचार आदि का सहज स्वाभाविक सम्मिलन हो गया है। × × × इस प्रकार उनके विचारों, भावों और कल्पनाओं का एक छोर प्रस्तुत विषय से और दूसरा नाना क्षेत्रों से आने वाले अनेकानेक अप्रस्तुत प्रसगों से सम्बद्ध रहता है।"

—(हिन्दी वाङ्मय : बीसवीं शती, पृ० 354)

रचना-संसार—डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने भाषाविद् रूप का परिचय देने के लिए 'हिन्दी की शब्द-सम्पदा' पुस्तक दी है, जिसमें उन्होंने भोजपुरी बोली की लोक-संस्कृत की शब्दावली का परिचय बड़े सरल-रोचक ढंग से दिया है। काव्यशास्त्रीय ज्ञान का परिचय देने के लिए 'रीति-विज्ञान' नामक पुस्तक में उन्होंने 'पाश्चात्य शैली विज्ञान' का करारा जवाब दिया है। इनके अतिरिक्त 'पानी की पुकार' नामक काव्य-संग्रह और 'पंचशर' नामक एकांकी संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। किन्तु कवि और एकांकीकार के रूप में उन्हें ख्याति नहीं मिल सकी है।

डॉ० मिश्र के निबन्ध-संग्रहों में 'परम्परा बन्धन नहीं' तथा 'साहित्य की चेतना' नामक विचार-प्रधान निबन्धों के संकलन हैं, किन्तु इन निबन्धों के आधार पर पं० विद्यानिवासजी को प्रतिष्ठा नहीं मिली है।

तब जिन ललित निबन्धों के क्षेत्र में मिश्रजी को पर्याप्त सफलता मिली है, उन निबन्ध-संग्रहों में सबसे पहला निबन्ध-संग्रह है—'**चितवन की छाँह**'। इसमें प्रकृति के रमणीक चित्र, प्राकृतिक सौन्दर्य, ग्राम्य संस्कृति मधुरता पदे-पदे मिलती है। '**कदम की फूली डाल**' और '**तुम चन्दन हम पानी**' निबन्ध-संग्रहों से मिश्रजी ललित निबन्ध के लेखन के क्षेत्र में प्रमुख स्थान बना सके हैं। उसके बाद तो '**आंगन का पंछी और बनजारा मन**' में व्यक्ति-व्यंजक निबन्धों में आत्मकथा का सुन्दर अभिव्यक्ति-करण मिलता है। '**वसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं**' के निबन्धों में सामाजिक चिन्तन, आधुनिक बोध और युगीन यथार्थ की झाँकी करायी गई है। '**मेरे राम का मुकुट भीग रहा है**' में लोकगीतों पर आधारित रामकथा-प्रसंगों की रोचक चर्चा की गयी है। इसी संग्रह में कई यात्रा और वृत्तान्त और रिपोर्ताज जैसी शैली में लिखे गये **विवरणात्मक** निबन्ध दिये गये हैं। '**कँटीले तारों के आर-पार**' में लेखक में पुनः युगबोध, समकालीन भावबोध को वाणी दी है। '**कौन तू फुलवा बीननिहारी**' में भक्तिकालीन भाव-सौन्दर्य के बड़े मनोरम चित्र अंकित किये गये हैं। '**अस्मिता के लिए**', '**तमाल के झरोखे से**', '**अंगद की नियति**' और '**लाग्यौरंग हरी**' आदि संग्रह लेखन की दृष्टि से कमजोर हैं। इनमें न तो विषय-वस्तु की दृष्टि से और न शैली-शिल्प की दृष्टि से कुछ नयापन है। ऐसा लगता है कि 'कौन तू फुलबा बीननिहारी' नामक निबन्ध-संग्रह के बाद लेखन चुक गया है और वह समास लिख रहा है। अब उनमें न न तो लेखन की गहराई है और शैली का रमने वाला उत्मुक्त मन ही है। इसी प्रकार पहले निबन्ध-संग्रहों में 'मैंने सिल पहुँचायी' संग्रह के निबन्ध भी कमजोर हैं। अधिक विस्तार में न जाकर डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना के शब्दों में पं० विद्यानिवास मिश्रजी की ललित निबन्ध-लेखन के क्षेत्र की उपलब्धियों पर प्रकाश डाला जा रहा है—

"सारांश यह है कि विद्यानिवास मिश्र एक श्रेष्ठ ललित निबन्ध-लेखक हैं। आपने इतने रोचक एवं सरस निबन्ध लिखे हैं कि वे हिन्दी साहित्य की अपूर्व निधि बन गये हैं। उनसे भाषा और साहित्य का अद्भुत शृंगार हुआ है तथा अभिव्यंजना शैली के क्षेत्र में एक विलक्षण परिवर्तन आया है। आपके ये निबन्ध-विषय की नूतनता एवं विविधता के साथ-साथ शास्त्रीय सम्पदा एवं लोक-संस्कृति के अक्षय भण्डार हैं। × × × निस्संदेह आपके निबन्ध वर्तमान जीवन की लीला-भूमि का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं × × × आपने अपने इन निबन्धों के माध्यम से लोक-जीवन को स्वर प्रदान किया है, लोक-संस्कृति को मुखरित किया है × × ललित निबन्ध की

विधा को नयी संजीवनी [illegible] दी है और आंचलिक भाषाओं के शब्द-भण्डार से अनजान पाठकों को नई अर्थच्छवियों से अवगत कराया है। इसी कारण आपके ललित निबन्ध हिन्दी-साहित्य की बेजोड़ कृतियाँ हैं।"

—(हिन्दी के प्रतिनिधि निबन्धकार, पृ० 389–90)

निबन्धों की भाषा—पं० विद्यानिवास मिश्र संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान हैं। अतः उनकी भाषा में संस्कृत-तत्सम शब्दों की बहुलता है, किन्तु साथ ही भोजपुरी के हजारों शब्दों को भी उन्होंने बेरोक-टोक प्रयुक्त किया है। उनकी भाषा के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि उसके दो रूप देखने को मिलते हैं—

(1) लालित्यपूर्ण पद-संरचना करते समय संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य।

(2) प्रवाहपूर्ण भाषा के समय उर्दू, लोक बोली के तद्भव शब्दों, अंग्रेजी आदि के शब्दों का निःसंकोच प्रयोग।

इन दोनों रूपों को स्पष्ट करने के लिए एक-एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा—

ललित पदावली—"मलयज में प्रभु की कृपा अधिक घिसती है अपना जीवन अल्प मात्र लगता है, पर रक्तचंदन उतारने में देवी की प्रेरणा कम, अपने जीवन का रक्त ही अधिक लगता है। इसलिए यह वक्र पंथगामियों की उपासना में ही अधिक उपयोगी माना जाता है। राजमार्ग पर चलने वाले धवल वेशधारियों के मस्तक पर यह फब ही नहीं सकता। यह तो सुनसान अंधकारित पथों पर निर्भय विचरण करने वाले नील कंचुकधारियों के उज्ज्वल भाल का शृंगार है।"

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 172)

शैली—डॉ० विद्यानिवास के ललित निबन्धों में कहीं **आत्मकथात्मक** शैली का प्रयोग मिलता है तो कहीं दृश्यों, व्यक्तियों के चित्रों में **विवरणात्मक शैली** का। वैसे जब वे भाव-जगत् में रमने लगते हैं तब **भावात्मक शैली** और काव्यात्मक शैली का प्रयोग करते देखे जा सकते हैं। उनकी सबसे प्रिय शैली है—आलंकारिक शैली; जब वे अप्रस्तुतों, प्रतीकों की सुन्दर संयोजना करते हैं। इन सभी शैलियों के एक-एक उदाहरण देकर इस कथन की पुष्टि की जाती है—

आत्मकथात्मक शैली—"पाँच-छः वर्ष का था मैं अपने बड़े पितृव्य के पास जाकर चुप-चाप बैठ जाता था और उनका महिम्न स्तोत्रपूर्वक चन्दन घिसना देखा करता था। पूजा उनकी घण्टों चलती थी, बीच-बीच में किसी वस्तु की आवश्यकता हुई तो वे देवभाषा में ही संकेत करते और मैं ला देता।"

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 168)

विवरणात्मक शैली—"मेरे बड़े दादा मिट्टी सानकर शिव की सुन्दर आकृति बनाते, उनके आस-पास मिट्टी का ही गौरी-गणेश रचते और चारों ओर ग्यारह रुद्रों की पंक्ति मिट्टी की ही खड़ी करते, तदनन्तर इनके ऊपर रुद्राभिषेक के मंत्रों से जलाभिसिंचन करते और इन पर चन्दन चढ़ाते।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 171)

व्याख्यात्मक शैली—"'नार' का अर्थ पुराणों और स्मृतियों में जल अर्थात् आदि-सृष्टि कहा गया है, इस आदि-सृष्टि में अभिव्याप्त सत्ता का नाम ही नारायण कहा गया है। इसलिए नरों में जो नरोत्तम होना चाहता है, उसे स्वभावतः

नारायणाभिमुख होना पड़ता है, क्योंकि नर का अर्थ ही है अपने में सिमटा हुआ।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 170)

व्यंग्यात्मक शैली—"ये मलयानिल दक्षिण से नहीं, पश्चिम से आये हैं, अर्थात् दायें से नहीं, पीछे से आये हैं। इनकी पुकार इसीलिए पीछे मुड़कर सुनने की सब के मन में उत्कण्ठा-सी जग जाती है। सबसे बड़ा, सृष्टि से मूर्धन्य कौन है? यह मनुष्य है। वह तब क्यों स्फटित होकर न चले, क्योंकि वह विनीत होने को विवश है।"

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 169)

निष्कर्ष—इस प्रकार कहा जा सकता है कि डॉ० विद्यानिवास के निबन्धों में कोमलकान्त पदावली, संस्कृत के समासज और संधिज्ञ शब्दों, तत्सम शब्दों की प्रधानता द्वारा भाषा का शृंगार किया गया है। वे प्रवाहपूर्ण और तुकदार वाक्यों द्वारा काव्यगन्धी गद्य की रचना करने में सिद्धहस्त हैं। गजगद्यात्मक वाक्यों द्वारा मिश्रजी का गद्य बड़ा मंथर गति से झूमता चलता है। पद-लालित्य द्वारा भाषा में भाव-तत्व का उचित समायोजन किया गया है। कहीं-कहीं बहुत छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा प्रसाद गुण सम्पन्न भाषा-शैलियों का सुष्ठु प्रयोग मिश्रजी के निबन्धों में लालित्य की सृष्टि करता है। ये शैलियाँ पाठक को मंत्रमुग्ध कर देती है और वह अद्भुत भावलोक में रमण करने लगता है।

तुम चन्दन हम पानी
निबन्ध की आलोचना

प्रश्न 2—"डॉ० विद्यानिवास मिश्र के निबन्ध 'तुम चन्दन हम पानी' में एक अच्छे ललित निबन्ध के सभी गुण विद्यमान हैं।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

अथवा

उच्च कोटि के ललित निबन्ध की विशेषताएँ बताइए। विद्यानिवास मिश्र के ललित निबन्ध "तुम चन्दन हम पानी' में वे कहाँ तक घटित होती हैं?

अथवा

"क्या 'तुम चन्दन हम पानी' एक सर्वश्रेष्ठ ललित निबन्ध कहा जा सकता है?" यदि हाँ तो क्यों?

उत्तर—डॉ० विद्यानिवास मिश्र हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्धकार हैं और उनका आलोच्य निबन्ध एक श्रेष्ठ ललित निबन्ध है। ललित निबन्ध के रूप-विधायक तत्व एक आलोचनात्मक या विषय-प्रधान निबन्ध से भिन्न होते हैं इसलिए उसकी समीक्षा करने के लिए एक भिन्न मानदण्ड होना चाहिए। विचारों की कसावट, श्रंखलाबद्ध विचारों का प्रतिपादन, विवेचनात्मक विश्लेषणात्मक शैली जैसे विषय-प्रधान निबन्धों के मानदण्डों के ललित निबन्धों पर न तो लागू किया जा सकता है और न ही ललित निबन्ध की समीक्षा इन मानदण्डों पर की ही जा सकती है। इसलिए आलोच्य निबन्ध की समीक्षा करने के लिए निम्न आलोचना-बिन्दुओं को आधार बनाया जाता है—

(1) काव्यात्मक शीर्षक।
(2) कथात्मक शैली के साथ रोचक प्रारम्भ।
(3) आत्मकथ्य।
(4) सन्दर्भ-बहुलता।

(5) भावात्मकता का आधिक्य ।
(6) लालित्यपूर्ण पदावली का प्रयोग ।
(7) काव्यगन्धी गद्य ।
(8) व्यंग्य की मारक शक्ति ।
(9) प्रतीकात्मक, आलंकारिक शैली ।
(10) नवलेखन गद्य की प्रवाहपूर्णता ।
(11) बलसंयोजन की प्रवृत्ति ।
(12) रेशमी पिच्छल आवरण में लिपटा विचार-तत्व ।
(13) उन्मुक्त भटकन ।
(14) लोक-संस्कृति का आख्यान ।
(15) पाण्डित्य-प्रदर्शन द्वारा गुरु गम्भीरता का संयोजन ।

अब इन्हीं विशेषताओं से सम्बन्धित विवेचन करके आलोच्य निबन्ध की उपलब्धियों को रेखांकित करने का प्रयास किया जाता है—

काव्यात्मक शीर्षक—आलोच्य निबन्ध का शीर्षक विचार-प्रधान निबन्धों की तुलना में विशिष्ट ही कहा जायगा क्योंकि इसमें कोई विचार-केन्द्रीय मूल्य न होकर सन्त कवि रैदास के एक भजन की एक पंक्ति को आधार बनाकर इस निबन्ध का शीर्षक बनाया गया है । रैदास का भजन इस प्रकार है—

अब कैसे छूटे नाम रट लागी ।
प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी । जेहि की जेहि में जोति समानी ।
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती । जाकी जोति जरै सब राती ।
प्रभुजी तुम सुई हम धागा । जैसे सोनेहि मिलै सुहागा ।
ऐसी भगति करै रैदासा....

इस भजन की सभी पंक्तियों में भक्त और भगवान् के तादात्म्य की बात विभिन्न अप्रस्तुतों के माध्यम से कही गयी है। इसकी एक पंक्ति के अर्धांश द्वारा प्रस्तुत निबन्ध का शीर्षक बनाया गया है ।

कथात्मक शैली के साथ रोचक प्रारम्भ—ललित निबन्ध में विचार-प्रधानता न होकर रोचकता की संयोजना की जाती है । यह रोचकता कहीं प्रकृति-चित्रण द्वारा, कहीं लोक-संस्कृति के भावपूर्ण दृश्यों द्वारा, कहीं कथात्मक शैली द्वारा निर्मित की जाती है । प्रस्तुत निबन्ध का प्रारम्भ कथात्मक शैली के साथ ही किया गया है—

"घर में पिताजी और दो पितृव्य पूजा-पाठ बहुत निष्ठानपूर्वक करते हैं । इसलिए तीन होरसे तो कम से कम घर में हैं ही । प्रतिदिन इन पर चन्दन और प्रायः मलयागिरि चन्दन ही घिसा जाता है । ××× पाँच-छः वर्ष का था, मैं अपने बड़े पितृव्य के पास जाकर चुपचाप बैठ जाता था, और उनका महिम्नस्तोत्र-पूर्वक चन्दन घिसना देखता रहता था ।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 168)

आत्मकथ्य—विषय-प्रधान और विषयी-प्रधान निबन्धों का विभाजन करने वाले काव्यशास्त्रज्ञों ने यही भेद किया है जब किसी निबन्ध में लेखक पर्दे के पीछे रहकर तटस्थ द्रष्टा बनकर केवल विषय का विवेचन-प्रतिपादन करता जाता है, तब विषय-प्रधान निबन्ध की रचना होती है और जब वह स्वयं निबन्ध में उपस्थित हो जाता है, अपने विचार, आशा-आकांक्षा, रुचि-अरुचि आदि का उल्लेख करके अपने व्यक्तित्व को भी अभिव्यक्त करता है तब वह विषयी-प्रधान या व्यक्ति-व्यंजक

निबन्ध की रचना करता है। इसी प्रकार आलोच्य निबन्ध में निबन्धकार अपने पिता और पितृव्य के द्वारा चन्दन घिसने और लेखक के बड़े दादा द्वारा मृण्मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा करने, लेखक की एक वैष्णव संस्कारों से संस्कारित चाची के द्वारा जो गोपीचंदन की व्याख्या करने की व्यक्तिगत बातें कही गयी हैं। यही आत्मकथ्य के अन्तर्गत आने वाली बातें हैं।

सन्दर्भ-बहुलता—ललित निबन्धों में बहुत हल्की-फुल्की बातों पर अगम्भीर ढ़ग से चर्चा की जाती है। किन्तु बीच-बीच में विभिन्न शास्त्रों, काव्यग्रन्थों के सन्दर्भ दे-देकर उसे गुरु गम्भीर बनाया जाता है। आलोच्य निबन्ध में कहीं जयदेव के गीत-गोविन्द के, कहीं कालिदास और तुलसी के, कहीं पुराण, स्मृतियों के, कहीं शाक्तों की रक्तचंदन परम्परा के उल्लेख भरे पड़े हैं।

भावात्मकता का प्राधान्य (भावगत लालित्य) विचार-प्रधान या विषय-प्रधान निबन्धों में बुद्धि-तत्व का प्राधान्य होता है और ललित निबन्धों में भाव या हृदय-तत्व का प्राधान्य होता है। इस प्रकार ललित निबन्ध भावात्मक निबन्धों के अधिक निकट हो जाते हैं। आलोच्य निबन्ध में भी **भक्तिभावना** के उत्कर्ष की चर्चा की गयी है कि भगवान् के महान् बृहत्तर रूप के आगे भक्त के सर्वभावेण समर्पण में कितना आनन्द आता है।

लालित्यपूर्ण पदावली का प्रयोग—कोमलकान्त पदावली के प्रयोग द्वारा लालित्य की सृष्टि करने के कारण ही इन निबन्धों का नाम ललित निबन्ध पड़ा है। लालित्य के साथ-साथ भावगत लालित्य भी अपेक्षित होता है। यहाँ आलोच्य निबन्ध से ललित पदावली का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"पर जो अभागा आदमी इस चन्दन को घिसकर अपनी प्रेयसी का अंगराग बना डालता है, या अपने शारीरिक ताप का उपशम-साधन मात्र समझने लगता है उसका जागरित, परिस्फुरित और प्रमुदित चिदंश पुनः उसकी प्रिया की विलास-श्रम बिन्दुओं या उसकी ही कायिक मलिनताओं में घुलकर विलुप्त हो जाता है।"

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 169)

काव्यगंधी गद्य—ललित निबन्धों में काव्य-जैसी गद्यात्मकता का आभास होता है। काव्य जिस प्रकार तुकान्तों का, लय का सौन्दर्य लेकर चलता है, उसी प्रकार का सौन्दर्य ललित निबन्धों के गद्य में भी पाया जाता है। आलोच्य निबन्ध से काव्यगन्धी गद्य का एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

"काव्य में एक पथ के पान्थ हैं तुलसी और दूसरे के कालिदास। तुलसी शील की छाँह में छँहाते चलते हैं और कालिदास बिजलियों की कौंध से आँखें मिलाते चलते हैं। तुलसी में मलयज की तरह ताप-निवारण की क्षमता है, कालिदास में लोहित चन्दन की तरह उन्मादन राग-विवर्धन की शक्ति है।"

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 172)

व्यंग्य की मारक शक्ति—ललित निबन्धों में व्यंग्य-विनोद की चुटकियाँ लेते हुए निबन्धकार अपनी भीतर की व्यथा को व्यक्त करता जाता है। समाज की विसंगतियों पर करारा प्रहार करने के लिए व्यंग्य के शस्त्र का प्रयोग करता है। प्रस्तुत निबन्ध में एक स्थान पर वामपंथी चिन्तकों (मार्क्स आदि पाश्चात्य विचारकों पर व्यंग्य किया गया है। खुशामद करने वाले लोगों पर तीखा व्यंग्य करते हुए लेखक ने कहा है—

"मैं जानता हूँ ऐसे परार्थ घटकों का कहीं भी जाइए, अभाव नहीं है।

साहित्य के क्षेत्र में जाइए तो कई एक ऐसे साहित्य के सेवी मिलेंगे, जो किसी न किसी पुजारी के लिए रात-दिन चंदन उतारते ही रहते हैं। बदले में कुछ दान-दक्षिणा मिल ही जाती है। राजनीति के क्षेत्र में तो बड़ा पुजारी केवल आरती के समय ही आता है।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 172)

प्रतीकात्मक, आलंकारिक शैली—ललित निबन्ध में शैलीगत लालित्य काव्यात्मक, आलंकारिक और प्रतीकात्मक शैलियों द्वारा उत्पन्न किया जाता है। प्रस्तुत ललित निबन्ध में भी चन्दन को भक्त की अस्मिता, अहंकार का प्रतीक मानकर व्याख्या की गयी है। एक उदाहरण देकर इस कथन की पुष्टि की जा सकती है—

"पर मैं तो यह मानता हूँ कि चन्दन जो भी हो, किसी रंग में भी सना हो वह हमारी विश्वभावना का ही एक शुष्कप्राय खण्ड है, जिसे रसासिक्त करना हमारा सतत् कर्त्तव्य है। जिस किसी भी शिला का हम होरखा बनवायें, वह धरती पर टिकी हो, संघर्षण में वह डगमगाने वाली न हो। × × × तत्वतः हमीं चन्दन हैं, हमीं पानी हैं, हमीं होरखा हैं, हमीं कटोरी हैं, जिसमें चन्दन रखा जाता है।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 173)

आलंकारिक शैली—"नये मानवीय मानों पर बल देने वाले अभिनव मलयानिलों से मैंने यह संकेत पाया है कि मनुष्य ही महान् है × × भुजंगों से लिपटा हुआ चन्दन का वृक्ष स्वतः ही महान् है, वह आस-पास के कंकोल, निम्ब और कुटज तक को चन्दन बना डालता है।" —(वही, पृ० 169)

नवलेखन गद्य की प्रवाहपूर्णता—पं० विद्यानिवास मिश्र के प्रस्तुत निबन्ध में प्रयुक्त गद्य-भाषा में प्रवाहपूर्ण वाक्यों का प्रयोग किया गया है। यथा—

"एक तीसरा पंथ है केशर या हल्दी के रंग में मलयज को संसक्त करके तिलक देने वालों का। रागात्मिका भक्ति के द्वारा दक्षिण और वाम पंथ के बीच सहज समाधान प्राप्त करने वालों का।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 173)

नवलेखन के प्रभाव का परिचायक है दो स्थानों पर अनावश्यक 'इत' प्रत्यय लगाना। विद्यानिवास मिश्र ने इन दो शब्दों को अनगढ़ रूप बनाकर प्रयुक्त किया है। ये दो शब्द हैं 'अंधकारित और आवाहित'।

(1) यह तो सुनसान अंधकारित पथों पर निर्भय विचरण करने वाले नील कंचुकधारियों के उज्ज्वल भाल का शृंगार है। —(निबन्ध-विविधा, पृ० 172)

(2) वे मनुष्य के विस्तारशील रूप को आवाहित करना जानते थे।

—(वही, पृ० 170)

बलसंयोजन की प्रवृत्ति—ललित निबन्धों में भाषा का प्रवाह उत्पन्न करने के लिए एक ही शब्द का बार-बार उपवाक्यों का निर्माण करते हुए प्रयोग किया जाता है। आलोच्य निबन्ध से एक उदाहरण प्रस्तुत करके इस कथन की पुष्टि की जाती है—"....अन्तर्मन में चन्दन का छिड़काव अभी गीला है, क्योंकि हमारे अक्षर अज्ञान के भीतर वह रागिनी अभी जागती है, जिसके किवाड़ चन्दन के बनते हैं, जिसकी चौकी चन्दन से मढ़ी जाती है, जिसके द्वार पर चन्दन का बिरवा रोपा

जाता है, जिसके गलहार भी चन्दन के ही बनते हैं और जिस पर चन्दन लिप्त हथेलियों की छाप पड़े बिना मंगल विधि पूरी नहीं होती।"

—(निबन्ध विविधा, पृ० 174)

रेशमी पिच्छल आवरण में लिपटा विचार तत्व—ललित निबन्धों में यद्यपि विचार का सूक्ष्म सूत्र तो विद्यमान रहता है किन्तु वह ऊपर से दिखायी नहीं देता। वह अन्तर्वर्ती सूत्र ऊपर से भावों के रेशमी पिच्छल आवरण में लिपटा रहता है। लोकमंगल, लोक का कल्याण और अमंगल का शमन, जनचेतना का विस्तार आदि कुछ ऐसे विचार सूत्र हैं जो प्रस्तुत ललित निबन्ध में रेशमी आवरण में लिपटकर व्यक्त हुए हैं। निबन्ध के अन्त में इस विचार तत्व का आभास मात्र कराया गया है—

"जिन भुजंगों के विष के भय से पेड़ के पेड़ सूख गये, उनको भुजदण्ड बनाने वाले हिमवासी शंकर का इस तप्त मिट्टी में आह्वान करो, वे चन्दन स्वीकारें, जिससे जनचेतना और उमंगित होकर पसरे, चन्दन की महक प्रत्येक दिशा में फैले और चन्दन का छिड़काव प्रत्येक पथ पर हो जाय।" —(वही, पृ० 174)

उन्मुक्त भटकन—ललित निबन्धकार मनमौजीपन से भटकता, बहकता चलता है। इससे प्रतिपाद्य विषय का सूत्र हल्के-फुल्के ढंग से विस्तारित किया जाता है। आलोच्य निबन्ध में पं० विद्यानिवास मिश्र ने अपने पिता, पितृव्यों द्वारा चन्दन घिसने की घटना का उल्लेख करके प्रारम्भ किया गया है किन्तु उसके बाद, फिर प्रभुजी चन्दन क्यों है, का विचार आता है, कभी वामपंथी पाश्चात्य विचारकों द्वारा मनुष्य को प्रमुखता देने की बात मस्तिष्क में आती है, फिर जयदेव के गीत-गोविन्द तक पहुँचता है; उसके बाद 'नार', 'वर' शब्दों की व्याख्या करने लगता है, उसके बाद 'नमो नारायण' कहने वाली अभिवादन प्रणाली, उसके बाद बड़े दादा के द्वारा गौरी-गणेश में प्राण-प्रतिष्ठा करने, उसके अपने एक सम्बन्धी के चन्दन बाँटते फिरने के प्रसंग में साहित्य और राजनीतिक के क्षेत्र में चाटुकारिता करने वालों की खबर लेता है। इतना ही नहीं, कभी शाक्तों द्वारा रक्तचन्दन लगाने, फिर तुलसी और कालिदास की तुलना करने, केशर या हल्दी में रक्त चन्दन मिलाने, और बाद में गोपीचन्दन की चर्चा करते-करते अपनी एक वैष्णव चाची की याद करने लगता है। कभी अद्वैतवादी बनकर स्वयं चन्दन बन जाता है और कभी लोक-संस्कृति में चन्दन-चौकी, चन्दन के किवाड़, चन्दन के बिरवा रोपने की चर्चा करके अन्त में शिव का स्मरण करके लोक-मंगल की कामना करता है। इस प्रकार न जाने कितने विचारों का भटकाव आता चला जाता रहा है।

लोक-संस्कृति का आख्यान—जैसा कि अभी कहा गया है कि प्रस्तुत निबन्ध में लेखक द्वारा चन्दन की चौकी, चन्दन के किवाड़ों, चन्दन का हाथ-छापा लगाने की चर्चा लोक-संस्कृति के ही क्षेत्र में आती है। मिट्टी की गौरी-गणेश की मूर्ति भी लोक-संस्कृति के ही क्षेत्र में आती है।

पाण्डित्य प्रदर्शन—हल्के-फुल्के विषयों को गुरु गम्भीर बनाने के लिए ललित निबन्धकार पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिए विभिन्न शास्त्रों के सन्दर्भ दे-देकर विषय को गुरु गम्भीर बनाने का प्रयास करते हैं। आलोच्य निबन्ध में लेखक कहीं वैष्णवों, कहीं शाक्तों की पूजा-उपासना पद्धति का, कहीं रक्तचन्दन, मलयचन्दन, कहीं गोपीचन्दन की बारीकियों का, कहीं 'नर', 'नारायण' शब्दों की व्याख्या करके भाषाशास्त्री रूप का परिचय देता है।

निष्कर्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि पं० विद्यानिवास मिश्र का आलोच्य निबन्ध—'तुम चन्दन हम पानी' ललित निबन्धों की अनेक विशेषताओं से मण्डित है। उसमें गजगद्यात्मक प्रयोग द्वारा भाषा में प्रवाह, लालित्य, कोमलकान्त पदावली, भक्ति भाव का लालित्य सर्वत्र विद्यमान है। लेखक का व्यक्तित्व भी बीच-बीच में झांकने लगता है। इस आधार पर आलोच्य निबन्ध को एक श्रेष्ठ ललित निबन्ध कहा जा सकता है।

व्याख्यायें

गद्यावतरण (1)—"सोचता हूँ प्रभुजी चन्दन क्यों है? हम जिनके प्रति अपने को अर्पित कर रहे हैं, उन्हें अपने जीवन के साथ घिसने में सार्थकता क्या है? मुझे कभी-कभी तब यह ध्यान आता है कि काठ के टुकड़े की तरह सामान्य रूप से हमारे अन्तस् के कोने में पड़ा हुआ चिदंश जब तक हमारे जीवन के साथ संपृक्त नहीं होता, तब तक वह निर्गुण, निरामोद और निर्व्यक्त बना रहता है, ज्यों ही वह इस पार्थिव शरीर के शिलाखण्ड पर जीवन के छिड़काव से बार-बार रगड़ खाने लगता है, त्यों ही उसका गुण, उसका आमोद और उसका चैतन्य अभिव्यक्त हो उठते हैं। विश्वात्मा की सुषुप्त शक्ति स्फुरित हो जाती है।" — (निबन्ध-विविधा, पृ० 169)

शब्दार्थ—चिदंश=चित्+अंश, परमात्मा का दिव्य रूप। निरामोद=बिना आमोद या प्रसन्नता के। निर्व्यक्त=अव्यक्त। पार्थिव=स्थूल, भौतिक। सुषुप्त=सोई हुई।

प्रसंग—डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने 'तुम चन्दन हम पानी' नामक निबन्ध में परमात्म शक्ति को चन्दन मानने के उपमान की सार्थकता व्यक्त की है—

व्याख्या—भगवान् को, अपने आराध्य को चन्दन मानने के पीछे यही विचार रहा होगा कि जिस प्रकार चन्दन काष्ठ का टुकड़ा पानी के साथ सम्पृक्त नहीं होता और घिसा नहीं जाता तब तक अर्पित होने योग्य नहीं हो पाता। उसी प्रकार हमारे अन्तस् में भगवान का 'चित्' रूप सूखे चन्दन काष्ठ की तरह बेकार पड़ा रहता है, वह उस समय निर्गुण, निराकार और अव्यक्त रूप में पड़ा होता है किन्तु पार्थिव शरीर रूपी शिला जीवन रूपी रस में सिक्त करके जब रगड़ खाता है तब वही अन्तस् में बैठा चिदंश साकार हो उठता है, उसका निर्गुण रूप सगुण में परिवर्तित हो उठता है, उस अव्यक्त रूप का मुदमंगलकारी रूप, चेतन रूप मुखरित होने लगता है। भक्त के हृदय में सोये हुए विश्वात्मा (परमात्मा) की नींद खुल जाती है और वह स्फूर्ति के साथ जाग उठता है।

विशेष—(1) इस गद्यांश में रैदास के एक भजन की पंक्ति 'प्रभुजी, तुम चन्दन हम पानी, जेहि की जेहि में ज्योति समानी' की आध्यात्मिक व्यंजना की गयी है कि चन्दन और पानी की सार्थकता या उसकी व्याख्या क्या हो सकती है?

(2) अर्पित, जीवन, सार्थकता, अन्तस्, चिदंश, निर्गुण, निरामोद, निर्व्यक्त, पार्थिव शरीर, गुण, आमोद, चैतन्य, विश्वात्मा, सुषुप्त शक्ति आदि सभी दर्शनशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली प्रयुक्त की गयी है।

(3) आलंकारिक शैली द्वारा चन्दन घिसने की प्रक्रिया का रूपकत्व स्पष्ट किया गया है।

गद्यावतरण (2)—"नये मानवीय मानों पर बल देने वाले अभिनव मलयानिलों से मैंने यह संकेत पाया है कि मनुष्य ही महान् है, वह दूसरे किसी महत्तर के प्रति अर्पित क्यों हो ? भुजंगों से लिपटा हुआ चन्दन का वृक्ष स्वतः ही महान् है, वह आस-पास के ककोल, निम्ब और कुटज तक को चन्दन बना डालता है। विषयों से परिवृत्त मानव अपने यश से अपने परिवेश में प्रत्येक युग में सुरभि भरता आया है, उसे अर्पित होने की क्या आवश्यकता है। ये मलयानिल दक्षिण से नहीं पश्चिम से आये हैं अर्थात् दायें से नहीं पीछे से आये हैं। इनकी पुकार इसीलिए पीछे मुड़कर सुनने की सबके मन में उत्कण्ठा-सी जग जाती है। सबसे बड़ा, सृष्टि से मूर्धन्य कौन है ? यह मनुष्य है। तब वह क्यों स्फीत होकर न चले, क्यों वह विनीत होने को विवश हो ?"
—(निबन्ध-विविधा, पृ० 169)

शब्दार्थ—मानों=जीवन मूल्यों, जीवन के मानदण्डों। अभिनव=नये। मलयानिल=मलय पर्वत से बहने वाला पवन, यहाँ पाश्चात्य सभ्यता की लहर। महत्तर=महान् से भी महान्। ककोल=वृक्ष का नाम। निम्ब=नीम का वृक्ष। कुटज=पर्वतीय प्रदेश में उगने वाला एक पौधा। परिवृत्त=ढँका हुआ, घिरा हुआ। पश्चिम=पाश्चात्य देश, यहाँ प्रसंग से रूस, जर्मनी, चैकोस्लोवाकिया आदि साम्यवादी देश। दायें=दक्षिण, यहाँ दक्षिण पंथ, सीधा सरल मार्ग। पीछे=पृष्ठ प्रदेश की ओर से, यहाँ वाममार्गी। स्फीत=फूलकर।

प्रसंग—डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने 'तुम चन्दन हम पानी' शीर्षक निबन्ध में रूस आदि देशों से आये साम्यवादी विचारों पर व्यंग्य करते हुए उनकी मान्यता को इस चन्दन के अप्रस्तुत द्वारा धराशायी करने का प्रयास किया है।

व्याख्या—साम्यवादी देशों से जो जीवन-मूल्य एवं जीवन-दर्शन हमारे देश में आया है उसमें मनुष्य को सबसे महान् माना जाता है। इस नये मलयाचल से जो गन्ध रूपी सन्देश या साम्यवादी विचारधारा हमारे देश में आयी है, वह कहती है कि ईश्वर क्या है, क्यों हम ईश्वर को मानकर अपने को उसके समक्ष अर्पित करें, क्योंकि मनुष्य ही समूची सृष्टि में सबसे महान् है। उसे किसी के समक्ष अर्पित होने की आवश्यकता नहीं है। आज का संघर्षशील मानव ही यहाँ भुजंगों से लिपटा चन्दन माना गया है और यह तर्क दिया गया है कि जिस प्रकार चन्दन अपने आस-पास के कड़वे नीम आदि वृक्षों को भी इतना प्रभावित कर डालता है कि उनमें से भी चन्दन की गन्ध आने लगती है। उसी प्रकार मनुष्य भी नाना प्रकार के विषयों से परिवृत्त होने पर भी अपने यश के बल पर प्रत्येक युग को सुवासित करता आया है, तब उसे और किसी अन्य ऐसी अव्यक्त सत्ता के प्रति समर्पण करने की क्या आवश्यकता है ? ये विचार हमारे दक्षिण दिशा में स्थित मलयाचल पर्वत से चलने वाली हवा से नहीं, अपितु पश्चिम के देशों से आये हैं। इसीलिए ये हमारे दक्षिणपन्थी विचार न होकर वामपन्थी विचार हैं। इस ऊपर से महान् लगने वाले मानव—महान् के नारे को भारतवासी भी बड़ी उत्कण्ठा से सुनने लगे कि सृष्टि में सबसे महान् मनुष्य ही है। तब वह खूब गर्व के साथ, अहंमण्डित होकर क्यों न चले, क्यों किसी के सामने घिघियाये।

विशेष—(1) यहाँ साम्यवादी विचारधारा पर व्यंग्य किया गया है कि वह मानव को सर्वोपरि मानती है और ईश्वर की सत्ता को मानना एक ढकोसला समझती है।

(2) आलंकारिक शैली द्वारा मलयानिल आदि को अप्रस्तुत (प्रतीक) रूप में लिया गया है ।

गद्यावतरण (3)—"मलयज का मान तभी है जब मलयज भारवाही पवन सागर-प्रक्षालित चरणों से हिममण्डित मुकुट तक उत्तर यान के लिए ललित गति से सतत् प्रवहशील है। चन्द्रिका का मान तभी है, जब मन में अविकल और पूर्णकाल चन्द्र प्रकाशमान है, मनुष्य का गौरव भी तभी है, जब वह अपने आप में अधिष्ठित है। जिस क्षण वह आत्म-विश्लिष्ट हो जाता है उस क्षण वह अत्यन्त हेय बन जाता है। इसीलिए जब वह अपने को परात्पर के लिए अर्पित करता है, तब वह सचमुच बिकता नहीं है। उल्टे उसी समय उसका गिरा हुआ मूल्य एकदम ऊँचे चढ़ जाता है, क्योंकि उसके लघुतर और क्षुद्रतर अंश स्वयं उसी के बृहत्तर और महत्तर अंशी के प्रति प्रणत होते ही उसे बृहत्तर और महत्तर सत्ता से एकाकार कर देते हैं।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 170)

शब्दार्थ—मलयज=मलयाचल पर्वत से प्रवाहित होने वाला पवन, चन्दनगंधी हवाएँ । प्रक्षालित=पैर धोना । हिममण्डित मुकुट=हिमालय । अधिष्ठित=अधिकारपूर्वक बैठना । विश्लिष्ट=अलग, पृथक् । हेय=घृणित, नीच । परात्पर=ब्रह्म । क्षुद्रतर=छोटा, तुच्छ से तुच्छ । बृहत्तर=बड़े से बड़ा । महत्तर=महान् से महान् । अंशी=समग्र, पूर्णब्रह्म ।

प्रसंग—डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने 'तुम चन्दन हम पानी' शीर्षक निबन्ध में विरहिणी राधा के शरीर पर शीतलोपचाररि के लिए लगाये गये चन्दन के कष्टकारी होने की चर्चा छेड़कर यह मत निर्धारित किया है कि चन्दन या मनुष्य भी तभी सार्थक है जब वह ईश्वर के लिए अर्पित किया जाय ।

व्याख्या– मलयाचल से प्रवहमान होने वाले पवन की महानता इस बात में है कि वह मलयाचल पर्वत से चलकर उत्तर में हिमालय तक मन्थर गति से चलकर समस्त देश को गन्ध सुवासित करे। इसी प्रकार चन्द्रमा की महानता तभी है जब वह मन में शीतल प्रकाश का निरन्तर अनुभव कराये । इसी प्रकार मनुष्य का गौरव भी तब ही है जब वह अपने आत्म-दर्शन में लीन हो, क्योंकि जब वह अपने आत्म-तत्व से विलग हो जाता है अर्थात् पशुत्व की कोटि में पहुँच जाता है तो उससे घृणित पात्र कौन होगा ? इसीलिए जब मनुष्य अपने को परम ब्रह्म के समक्ष समर्पित कर देता है तब वह वास्तव में महान् हो जाता है । जब वह अपने स्वत्व से विहीन नहीं होता अपितु विश्वात्मा में लीन होकर उसी जैसा महान् बन जाता है। पाश्चात्य देशों के साम्यवादी विचारों द्वारा जब वह पशु सदृश क्षुद्र स्वार्थी हो जाता है तो वह गिर जाता है, वह पाश्चात्य विचारों के प्रति बिक जाता है। परन्तु जब परम ब्रह्म के प्रति समर्पित होता है, अपने को उस महान् के साथ एकाकार करता है, तब उसी महान् ब्रह्म जैसा ही महान् हो जाता है ।

विशेष—(1) यहाँ विद्यानिवास मिश्र ने अंशांशि (ईश्वर अंश जीव अविनाशी) का दार्शनिक प्रतिपादन किया है ।

(2) मानव की सार्थकता परमात्मा के प्रति समर्पित होने में ही बतायी है ।

(3) आत्म-अधिष्ठित, आत्म-विश्लिष्ट, परात्पर, अर्पित, क्षुद्रतर अंश, महत्तर अंशी आदि दर्शनशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग द्रष्टव्य है ।

गद्यावतरण (3)—"नार का अर्थ पुराणों और श्रुतियों में जल अर्थात् आदि-सृष्टि कहा गया है, इस आदि-सृष्टि में अभिव्याप्त सत्ता का नाम ही नारायण कहा गया है। इसलिए नरों में जो नरोत्तम होना चाहता है, उसे स्वभावतः नारायणाभिमुख होना ही पड़ता है, क्योंकि नर का अर्थ ही है अपने में सिमटा हुआ। जिन लोगों ने मनुष्य मात्र को 'नमो नारायणाय' कहकर प्रणाम करने की परम्परा चलायी, वे मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति के सबसे बड़े द्रष्टा थे, वे मनुष्य के विस्तारशील रूप को आवाहित करना जानते थे, इसीलिए सामान्य से सामान्य जन को देखकर वे यही कहते थे, नारायण को नमस्कार है, तुम्हारे अन्दर जो विश्वभावना तत्व है, उसे नमस्कार करता हूँ ताकि वह तत्व तुम्हारी क्षुद्रता और संकीर्णता के बहिरावरण को फोड़कर बाहर आये।" —(निबन्ध-विविधा, पृ० 179)

शब्दार्थ—नरोत्तम=नरों में उत्तम, महान् व्यक्ति। अन्तर्निहित=भीतर छिपी हुई। आवाहित=आवाहन करके बुलाना। बहिरावरण=बाहरी पर्दा, ढँकने वाला।

प्रसंग—डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने 'तुम चन्दन हम पानी' नामक निबन्ध में भारतीय संस्कृति के मूल्य मन्त्र 'नर से नारायण' की व्याख्या प्रस्तुत गद्यावतरण में की है।

व्याख्या—पुराणों के सन्दर्भ से 'नार' शब्द का अर्थ जल बताया गया है। यही जल तत्व सृष्टि के प्रारम्भ में एकमात्र तत्व था और समस्त ब्रह्माण्ड जलमय ही था। इसलिए नारायण का अर्थ हुआ आदि—सृष्टि में व्याप्त सत्ता। इसीलिए सम्भवतः विष्णु भगवान् को क्षीरसागर में शेषनाग की शैया पर निर्द्वन्द्व रमण करने की बात भी कही गयी है। इसीलिए जो मनुष्यों से ऊँचा उठकर महान् बनना चाहता है उसे 'नारायण' की ओर उन्मुख होना पड़ता है। 'नर' शब्द का अर्थ 'अपने में सिमटा हुआ' बताया गया है। भारतीय संस्कृति में 'नमो-नारायण' कहकर परस्पर अभिवादन की प्रणाली चलायी गयी, इस अभिवादन-प्रणाली के जनक को लेखक ने मनुष्य में व्याप्त और निहित महान् परमात्म शक्ति का द्रष्टा बताया है। वे लोग जानते थे कि उस अनन्त शक्ति वाले ब्रह्म का इस मानव शरीर में आवाहन किया जा सकता है। इसीलिए प्रत्येक साधारण व्यक्ति को वह 'नमो-नारायण' कहकर अभिवादन, प्रणाम करते थे। प्रत्येक मनुष्य के भीतर विश्वात्मा निवास करता है। वही विश्वात्मा मानव की क्षुद्रता और संकीर्णता के आवरण को भेदकर बाहर झाँकता है और यदि हम क्षुद्रता और संकीर्णता के आवरण को नहीं भेद पाते तो क्षुद्र ही बने रहते हैं, हमारी आत्मा का विस्तार नहीं हो पाता।

विशेष—(1) आदि-सृष्टि, नारायण, नर, नरोत्तम, अन्तर्निहित शक्ति, विस्तारशील रूप, विश्वभावना तत्व आदि सभी पारिभाषिक शब्द दर्शनशास्त्र के हैं, जिनसे मिश्रजी ने अपनी गद्य-भाषा का शृंगार किया है।

(2) 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' की विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है।

(3) उच्च स्तरीय परिस्कृत, प्रांजल भाषा का स्वरूप द्रष्टव्य है।

(4) व्याख्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक शैलियों द्वारा तत्व निरूपण किया गया है।

गद्यावतरण (5)— [illegible] हूँ कि वे अपनी पार्थिव सीमा में बँधे महादेवता को अपने पवित्रतम जीवन से रससिक्त करने के अनन्तर अपने जीवन के साथ संघृष्ट उत्कृष्टतम महत्त्ववासना का आमोद चढ़ाकर ही अपने महादेवता को पूर्ण प्रतिष्ठा दे पाते थे, या यों कहें अपने में दूर फैलने की, महान् बनने की और निर्माण करने की जो भी शक्ति सन्निहित है, उसको पूर्णरूप से जगाकर ही मनुष्य अपने को प्रकाश का अधिकारी बना सकता है। निवेदनीय पात्र बनकर नैवेद्य का भोक्ता बना सकता है। इज्य बनकर धूप अर्थात् आहुति का अधिकारी बना सकता है।"

—(निबन्ध-विविधा, पृ० 171)

शब्दार्थ—पार्थिव=स्थूल। संघृष्ट=संघर्ष से प्राप्त। महत्त्ववासना=महान् बनने की इच्छा। आमोद=रूप, आवरण। निवेदनीय=जिसके प्रति निवेदन किया जा सके। नैवेद्य=पूजा की, देव समर्पण की सामग्री। इज्य=इस संसार को जीतने योग्य।

प्रसंग—'तुम चन्दन हम पानी' नामक निबन्ध में लेखक डॉ० विद्यानिवास मिश्र अपने बड़े दादा द्वारा मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करके पूजा करने और चन्दनचर्चित करने की घटना का उल्लेख करके ही उनकी भक्ति की व्याख्या करते हैं—

व्याख्या—उनके दादा इस स्थूल जगत् की सगुण या रूपयुक्त मूर्ति की सीमा में बँधे महादेवता को जो अपने पवित्र जीवन का समर्पण देते थे और जीवन रस से सिक्त करते थे, अपने को महान् बनाने की इच्छा से अपना सर्वस्व, अपना रूप, आकार सब कुछ अर्पित करते थे तभी उनके देवता की पूर्ण प्रतिष्ठा हो पाती थी। लेखक का यह मत है कि प्रत्येक व्यक्ति में अपने आत्म को परमात्मा तक विस्तार देने की शक्ति होती है, अपने को महान् बनाने के लिए वह यह आत्म-विस्तार कर सकता है। उसी शक्ति को पूर्णरूपेण जाग्रत करके ही मानव अपने को प्रकाश का अधिकारी बना सकता है, बिना आत्म-शक्ति के विस्तार के [illegible] सम्भव नहीं है। इसी प्रकार यदि भगवान् के समक्ष आत्म-निवेदन नहीं कर सकता तो वह परमात्म रूप नहीं बन सकता कि उस पर नैवेद्य चढ़ाया जा सके। आदमी चाहे तो पहले अपने को इस रूप में समर्पित कर दे कि परमात्म रूप हो जाय, तब वही धूप या गन्धादि की आहुति पाने का पात्र बन सकता है।

विशेष—(1) यहाँ 'धूपं दीपं, नैवेद्यं' द्वारा की जाने वाली उपासना का उल्लेख किया गया है।

(2) महादेवता, पूर्ण प्रतिष्ठा, शक्ति, प्रकाश, अधिकारी, नैवेद्य, धूप, आहुति आदि पूजा-उपासना की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग द्रष्टव्य है।

(3) विवेचनात्मक शैली का प्रयोग करके मिश्रजी ने विवेचन क्षमता का परिचय दिया है।

———